॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कल्याण

वर्ष ५२] [अङ्क ११

'माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

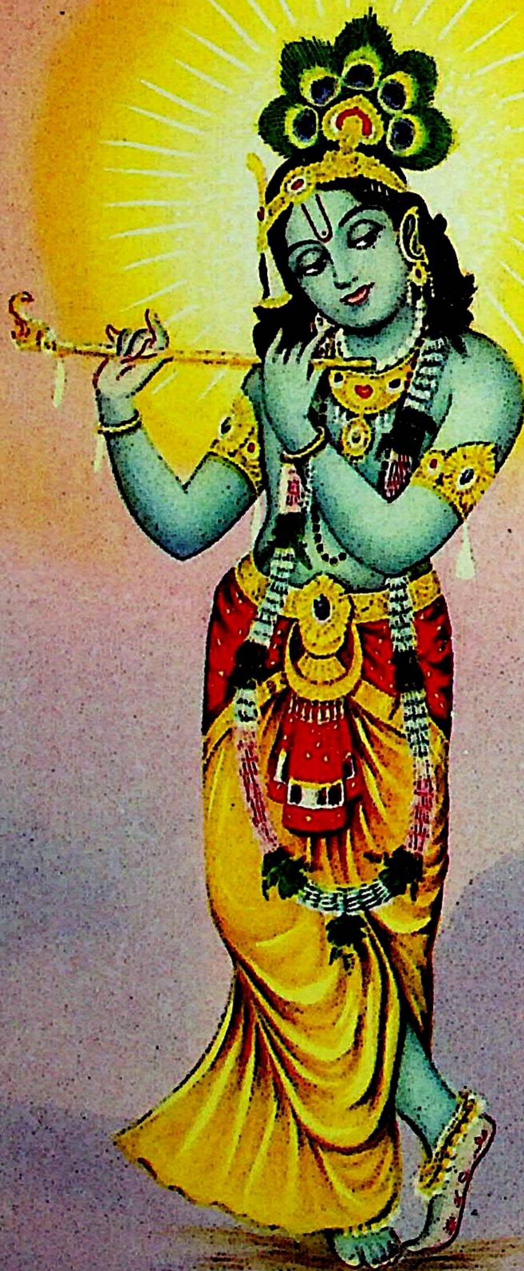
कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, नवम्बर १९७९

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]





ललित त्रिभङ्गी - श्रीबाँकेबिहारी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥

वर्ष ५३ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, नवम्बर १९७९ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ६३६

श्रीबाँकेविहारीकी रूप-छवि

सजल-जलद-नीलाभ श्याम तन परम मनोहर ।
गोरोचन-चर्चित तमाल-पल्लव-सम सुन्दर ॥
गोल भुजा आजानु प्रलम्बित मद मनोज हर ।
कङ्कण-केयूरादि विभूषित परम रम्य वर ॥
गुञ्जावलि-परिवेष्टित, सुमन विचित्र सुशोभित ।
चूडामण्डित रत्न-मुकुट शिखिपिच्छ नवल युत ॥
घुँघराली अलकावलि, नील कपोल सुचुम्बित ।
कुण्डल-द्युति कमनीय गण्ड-आभापर उजलित ॥
विम्बाफल बन्धूक-पुष्पके सुषमाहारी ।
अरुण अधरपर मधुर मुरलिका मञ्जुल धारी ॥

—श्रीभाईजी (पद-रत्नाकर—१५३)

कल्याण-वाणी

सबमें परमात्माका निवास समझकर सबका सम्मान करो, अपमान तो किसीका भी मत करो। स्वयं मान छोड़कर सबका सम्मान करोगे, दूसरोंके मानपर तुम्हारा कोई भी आचरण किसी प्रकार ठेस पहुँचानेवाला नहीं होगा तो तुम आप ही सबके प्यारे बन जाओगे। फिर तुम्हें सभी हृदयसे चाहेंगे और तुम अपने इच्छानुसार अधिकांशको सन्मार्गपर ला सकोगे।

दूसरेके साथ ऐसा कोई बुरा व्यवहार कभी न करो, जैसा अपने साथ दूसरोंसे तुम नहीं चाहते। यदि तुम दूसरोंसे सम्मान, सत्कार, उपकार, दया, सेवा, सहायता, मैत्री और प्रेम आदिकी आशा रखते हो तो पहले दूसरोंके प्रति तुम ऐसा ही व्यवहार करो।

अपनी अच्छी बात दूसरेसे प्रेमपूर्वक कहो, परंतु यह आग्रह न करो कि वह तुम्हारी बात मान ही ले; और न माननेवालेको कभी न तो बुरा कहो और न उसे मनमें ही बुरा समझो। उससे अपनी बात मनवानेकी नहीं, परंतु निवेदन करनेकी चेष्टा करो। कभी अपनी भूल हो तो मानभङ्गके भयसे अपनी बातपर अड़े मत रहो। भूल स्वीकार करनेमें हानि तो होती ही नहीं, ठीक रास्तेपर आनेसे बड़ा भारी लाभ अवश्य होता है।

दूसरोंसे अपनी बातके समर्थनकी कामनासे ही उनकी सम्मति मत चाहो। भूल-चूक बतानेके लिये ही उनकी राय पूछो और यदि कोई भूल बतावे तो बुरा न मानकर उसपर विचार करो तथा उसका उपकार मानो। यदि वह कोई ऐसी भूल बतावे जो अपनेमें न दीखे, तब भी उसकी नीयतपर संदेह न करो; फिर गौर करके अपने हृदय और आचरणोंको टटोलो, कहीं-न-कहीं भूल लुकी-छिपी मिल जायगी। कदाचित् न भी मिले और भूल बतलानेवाला ही भूला हो, तो भी उसकी कृपा मानो, जिसने तुम्हें सुधारनेके लिये तुम्हारी भूल बतलाने-जैसा छोटा काम स्वीकार किया और इस काममें अपना मन और समय लगाया।

तुम्हारी रायपर कोई न चले तो बुरा मत मानो, न उससे घृणा करो। बल्कि तुम्हारी रायके अनुसार काम न करनेके कारण उसको कोई नुकसान पहुँचा हो और वह फिर कभी मिले तो उससे यह मत कहो कि मेरी राय न माननेका फल तुम्हें मिला है। उसके साथ प्रेमसे मिलो, उसे समयपर फिर अपना सत्परामर्श दो और अच्छे मार्गपर चलानेकी चेष्टा करो।

किसीमें कोई दोष देखकर उसके लिये मनमें यह निश्चय न कर बैठो कि वह बुरा ही आदमी है। हो सकता है, दोष देखनेमें तुमने भूल की हो अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर मन न रहनेपर भी उससे वह दोष बन गया हो। अच्छे-बुरे गुण सभीमें हैं; उसके अच्छे गुणोंको देखकर उसपर प्रेम करो। बुरेपर ध्यान ही मत दो।

सच्चा दोष दीखनेपर भी किसीका अपमान न करो या उसपर क्रोध करके दोष निकालनेकी चेष्टा न करो। कभी-कभी तुम्हारे अपमान या क्रोध करनेसे दोषी मनुष्यकी दूषित वृत्ति दब जायगी, परंतु उस वृत्तिका नाश नहीं होगा। तुम्हारा किया हुआ अपमान या क्रोध उसके मनमें चुभता रहेगा और यदि वह भूलमें पड़ गया तो अपने दोषके लिये पश्चात्ताप न कर तुमसे अपमान या क्रोधका बदला लेनेकी धुनमें लगा रहेगा। इससे उसमें भी नये दोष पैदा होंगे और उसकी द्वेषयुक्त चेष्टासे भड़ककर तुम भी अधिक क्रोधी और हिंसक बन जाओगे। किसीका दोष जड़से निकालना हो तो उसके प्रिय बनकर उसकी सेवा कर-कर उसके मनपर अधिकार जमाओ और फिर उसे समझाओ। सम्भव है, इसमें सफलता कुछ देरसे मिले, परंतु मिलेगी अवश्य और स्थायी मिलेगी। आज राज, समाज और व्यक्तियोंने दण्ड दे-देकर अपराधियोंकी संख्या बढ़ा दी है। जो स्वयं गलत कार्य करते हैं और राग-द्वेषवश यथार्थ दोषका निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें दूसरोंके दोष देखने और उन्हें दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। —'शिव'

भक्तिकी उपयोगिता

(लेखक—आचार्य श्रीविनोबा भावे)

वासनाके अन्तके लिये पूर्ण शक्ति लगानी होगी। यह कार्य कठिन है। इसीसे इसे परम पुरुषार्थ कहते हैं। हमें अपनी समस्त शक्तियाँ इसमें लगानी चाहिये तब कहीं सिद्धि होगी। यदि इन्द्रियनिग्रह यानी बाह्य इन्द्रियनिग्रहसे वासनाका अन्त नहीं होता, अर्थात् निरोधशक्ति इस कार्यको करनेमें असमर्थ है तो ज्ञानशक्तिको भी पूर्णरूपसे इस कार्यमें लगाना चाहिये। हो सकता है कि सम्पूर्ण निरोधशक्ति और ज्ञानशक्ति लगा देनेपर भी सिद्धि न मिले। दोनोंके लिये इन्द्रियाँ बलिष्ठ साबित हों और हमें कामयाबी न मिले। इसलिये तीसरी अमोघ शक्ति बतायी गयी है; वह है भक्ति। निरोधशक्ति और ज्ञान-शक्तिका पूर्ण उपयोग करो और यदि कार्य पूरा न हो तो मेरी (भगवान्‌की) शरण आओ। वासना-क्षयके प्रयासमें जब निरोधशक्ति और ज्ञानशक्ति कम पड़ती है तब भक्तिका उपयोग होता है। निरोधशक्ति और ज्ञानशक्तिके पूर्ण उपयोगके बाद भी द्वन्द्व-मोह दूर नहीं होते; तब भक्ति काम आती है। ईश्वर एक विचित्र बैंक है। इससे मनुष्य-मात्रको शक्ति मिली है। जबतक अपनी प्राप्तशक्तिके उचित और सम्पूर्ण उपयोगका हिसाब वहाँ पेश नहीं करते, नयी शक्ति नहीं मिल सकती। गजेन्द्र-मोक्षकी कथा प्रसिद्ध ही है। अपनी पूर्ण शक्तिको जब गजेन्द्र लगा चुका तब उसने भगवान्‌को पुकारा। इसी प्रकार द्रौपदी जब भीष्म, विदुर, द्रोण और अपने पतियोंसे त्राण न पा सकी तब उसने भगवान्‌को पुकारा और तब—'बसनरूप भए स्याम।' द्रौपदीकी लाज बच गयी।

भगवान्‌की दी हुई समस्त शक्तिका सम्पूर्ण उपयोग कर लेनेके पश्चात् ही और माँगनी चाहिये, तभी वह (शक्ति) मिलेगी। इससे पूर्व नहीं; क्योंकि भगवान् हमारे पूर्ण हितचिन्तक हैं; हितकी दृष्टिसे ही शक्ति देते हैं।

ये भगवान् क्या चीज हैं? तार्किक दृष्टिसे भगवान् क्या हैं? भगवान् तर्कका विषय नहीं हैं। उन्हें तो श्रद्धासे ही ग्रहण करना है। परंतु तर्कसे भी उनका ज्ञान प्राप्त होता है। पिण्ड-ब्रह्माण्डकी एकता हम पग-पगपर अनुभव करते हैं। जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है और जो ब्रह्माण्डमें है वह पिण्डमें है। 'यत्पिण्डे तदेव ब्रह्माण्डे।' मुझे आँख मिली है तो दुनियामें सूर्य होना ही चाहिये। मुझे आँखकी अनुभूति है तो सूर्य होना ही चाहिये। मुझमें प्राण है तो दुनियामें वायु होनी ही चाहिये। बिम्बरूप दुनियामें वायु है तो पिंडरूप शरीरमें प्राण है। 'मैं नहीं हूँ' इसका अनुभव किसीको नहीं हुआ। मुझको मेरे अहम् (कांशसनेस) का अधिष्ठानरूप आत्मतत्त्व है। वह प्रतिबिम्बरूप है तो बिम्बरूप सृष्टिमें परमात्मतत्त्व होना ही चाहिये। इस प्रकार आत्मतत्त्व सिद्ध है तो परमात्मतत्त्व सिद्ध होना ही चाहिये। आत्मतत्त्व अनुभवसे मिला, परमात्मतत्त्व अनुमानसे मिला। मुझमें मेरे अहम्‌का अधिष्ठानरूप आत्मतत्त्व है तो विश्वका अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्व होना ही चाहिये। यही अधिष्ठान-शक्ति ईश्वर है।

भक्ति क्या है ?

रागात्मक वृत्तिका जो रूप अपनेसे छोटोंके प्रति स्नेह, समानोंके प्रति प्रीति और बड़ोंके प्रति सेवा-भक्तिके रूपमें देखा जाता है, वही परानुरक्तिरूप धारण कर देवोंके प्रति केवल भक्ति रूपमें प्रसिद्ध होता है। यह भक्ति मानवके सरस जीवनकी संजीवनी तब हो जाती है जब अपने उत्कृष्ट रूपमें साधनभक्तिसे आगे साध्य हो जाती है। ऐसी ही भक्ति भक्त याचते हैं—

'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे।'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

(सत्यकी शरणसे मुक्ति)

(२)

[गताङ्क सं० १०, पृष्ठ-संख्या ३८९से आगे]

सत्य-आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमद्वारा उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक* आहार करता है उसका नाम सत्य-आहार है। यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये बिना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है, वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है, इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी इस प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य-आहार सत्य-आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये व्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्मशास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके बिना केवल व्याजवृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी (न्यास) रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित व्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो कर्जदार उसको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल व्याजकी जीविका निन्दनीय है। इस प्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है। इसी प्रकार शूद्र आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका वह आहार सत्य-आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपटको त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य-आहार है। व्यापार करनेवाले वैश्यको उचित है कि यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल बिक्री करे। गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले। लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बरताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ-हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूल धनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे धन उपार्जन करे और सादगीसे रहे; जितने कममें अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे;

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (गीता १७। ८)

बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हित-चिन्तन करके लोकोपकारके लिये ही व्यय करे; यही सत्य व्यापार है। इस प्रकारके व्यापारद्वारा उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य-आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके तेरहवें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं सोलहवेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं, अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे इनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृद्ता इत्यादि भाव साकार परमेश्वरमें तो स्वाभाविक होते हैं, पर भगवान्‌की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्म-दर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-कृपासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं; क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं। जैसा आन्तरिक भाव होता है वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न पुरुष यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है, यह व्यक्ति तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता; बल्कि अवसर पड़नेपर हृदयसे उसके संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा व्यङ्ग्य और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया था—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्‌में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था। महाभारत युद्धके आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो। मेरे पास जो कुछ है, उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो। एक ओर तो मेरी

एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र हूँ। तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा। इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है। इसपर दुर्योधनने अपने पक्षमें सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको।

ऐसे पुरुषोंको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ प्रलोभन नचिकेताको न कर सका। उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको तत्काल ठुकराकर परमात्मधनको ही पसंद किया।

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता। धन तो आपके दर्शनसे ही मिल जायगा। जबतक आप (अनुग्रहपूर्वक प्राणियोंपर) शासन करते रहेंगे, तबतक मैं जीवित भी रह सकूँगा, परंतु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है। जरारहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरामरणयुक्त तथा पृथिवीरूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा? रूप, क्रीड़ा, और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर कौन पुरुष लम्बी आयुसे सन्तुष्ट होगा? हे मृत्यो! परलोक-सम्बन्धी आत्मतत्त्वमें जो शङ्का की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये; इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता।' (कठोपनिषद् १। १। २७–२९।)

और ऐसे पुरुषोंका वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है, जैसे कल्याणकामी सत्यकामका गुरुवचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था। वह ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उद्दालककी सेवामें उपस्थित होता है। उसे गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ; पूरी हजार हो जानेपर वापस चले आना (छान्दोग्य० ४। ४। ५)। कहना नहीं होगा कि अपनी दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया।

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृद्‌ताका ही बरताव करते हैं।

सत्कर्मकी व्याख्या

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं—**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥** (गीता १७। २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है, वह भगवदर्थ ही होता है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥
(गीता १७। २५)

इस प्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त ही कर लेता है। ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्थान-स्थानपर इस प्रकार कर्म करनेकी आज्ञा दी है। (देखिये—अध्याय ३। ९, ९। २७, १२। १०-११ आदि।)

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये। जैसे सच्चा सेवक (मुनीम, गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकार-गत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म

अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बंदर नटकी इच्छा और उसके आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किस प्रकार चले ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं। वह आपके हृदयमें विराजमान है। श्रीकृष्ण भगवान् गीता (१५ । १५) में कहते हैं कि—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है—यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है। साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं ?' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं !' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' किंतु अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषोंद्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता, अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये। (आप्त पुरुषोंके आप्त वचन ईश्वरकी आज्ञाके समान ही होते हैं।)

संत-वाणी

(पूज्य स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी, चाँदोदके एक पत्रसे)

हम-जैसोंके लिये भगवन्नाम-जपका सतत अभ्यास (अखण्ड-जप) आत्मशुद्धि, आत्म-शान्ति और आत्म-कल्याणके लिये एक अमोघ उपाय है। किसी भी परिस्थितिमें जप चालू रहे—इतनी स्वाभाविकता जीवनमें बना लेनी चाहिये। इस नाम-साधनाका आश्रय लेनेसे संसार छूटता जायगा और जीवनका सच्चा विकास विस्तृत होता जायगा और तभी जीवनमें सच्ची शान्ति मिलनेकी आशा सफल होगी।

घरमें सर्प घुस जाय तो उसे निकालकर ही छोड़ते हैं। हमलोगोंने शरीररूपी घरमें कितने विषधरोंको पाल रखा है। सर्प डँसेगा तो एक ही जन्म (भव) बिगड़ेगा, परंतु ये विषय-विषधर तो अनेक जन्म बिगाड़ देंगे। नाम-स्मरण तथा सत्सङ्ग साधनसे ही इनके विषैले दाँत तोड़े जा सकते हैं।

आत्म-कल्याणके मार्गपर ले जानेवाले ग्रन्थोंका स्वाध्याय भी सत्सङ्ग ही है। इनका भी एक क्रम है। श्रवण करो, इसके पश्चात् मनन और फिर निदिध्यासन (अभ्यास)। नहीं तो यह आनन्द अल्प-ही रह जायगा, 'भूमा' नहीं होगा।

'शब्द' ब्रह्म है। उसमें अमोघ शक्ति है। वह जीवनको सुधार सकता है और तार भी सकता है। महाभारत युद्धका मूल जुआमें नहीं, अपितु द्रौपदीजीके इस असंयत उक्तिमें कि—'अंधेके अंधे ही होते हैं'—इन व्यंग्यपूर्ण कटु शब्दोंमें ही था। अतः कटु या मिथ्याभाषी नहीं, अपितु मितभाषी बनो। आवश्यकतानुसार बोलो, समयानुसार बोलो। सत्य, परंतु मधुर बोलो। वाणीका दुरुपयोग करना आत्मापराध है। कटु सत्य न बोलो। कटु सत्य बोलनेकी अपेक्षा चुप रह जाना कहीं अच्छा है।

प्रारब्धवश जो सम्पत्ति प्राप्त हुई हो (विद्वत्ता, लक्ष्मी, बुद्धि-सत्ता आदि) उसका दूर-दूरतक सद्व्यय करो। आवश्यकताके अनुसार ही व्यवहार करो। सद्गुणोंका व्यवहार अपने और परायेका भेद-भाव भूलकर करो।

(प्रेषक—श्रीराणपुरी 'दादा')

रामायणका दर्शन

(लेखक—श्री एस० विजयकुमारजी)

स्व-स्वरूपकी ओर आकर्षण प्रत्येक वस्तुका स्वाभाविक धर्म है । जीवका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है । अतः उसमें आनन्दकी लालसा स्वाभाविक है । किंतु स्वरूपेण आनन्दमय होते हुए भी जीव मायाके वश होकर वास्तविक सुखका—मुक्त स्वरूपका—साक्षात्कार नहीं कर पाता है । दुःखके सांसारिक परिवेशमें उसे एक मार्गदर्शककी आवश्यकता पड़ती है । अतः वह प्रार्थना करता है—'मुझे असत्यसे सत्यकी ओर ले चलो, मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलो और मुझे मृत्युसे अमृतत्वकी ओर ले चलो ।' एक सच्चे मार्गदर्शकका कार्य तत्त्वदर्शी ही कर सकता है । जो स्वयं अन्धा है वह दूसरेका पथप्रदर्शन कैसे कर सकता है ? और यदि करनेका दुस्साहस करता भी है, तो दोनों ही विपत्तिमें पड़ जाते हैं । तत्त्वदर्शीके लिये हमारे यहाँ 'ऋषि' संज्ञा दी गयी है । ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा—जिसने मन्त्रमें तत्त्वका साक्षात् दर्शन कर लिया हो ।

कविका कार्य ऋषिके समान है । 'कवि'का अर्थ है—क्रान्तदर्शी । **'कवयः क्रान्तदर्शिनः'**—अर्थात् नेत्रोंके व्यापारसे दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्यके पदार्थोंको यथार्थरूपसे देखनेवाला पुरुष कवि है । कविका पद ऋषिसे भी कुछ अधिक उच्च है । वस्तुतत्त्वके साक्षात्कार करनेसे ऋषित्वकी प्राप्ति हो जाती है, परंतु जबतक वह अपने अनुभूत तत्त्वको शब्दोंके द्वारा व्यक्त नहीं करता, तबतक वह कवि नहीं कहला सकता । कवि दर्शन ही नहीं, वर्णन भी करता है । किंतु ऋषि ही कवि बन सकता है । प्रत्येक सच्चा कवि ऋषि है, किंतु प्रत्येक ऋषि कवि नहीं ।

ऋषिका भी पद अत्यन्त दुर्लभ है । तत्त्वका दर्शन एक सुलभ कार्य नहीं है । श्रीशंकराचार्यने तत्त्वदर्शनके इच्छुक व्यक्तिको शुद्ध अन्तःकरण एवं विवेकसे युक्त, शम-दमादि साधनसम्पन्न एवं विरक्त होना आवश्यक माना है । किंतु सांसारिक सुखोंको दुःखस्वरूप सिद्ध कौन करेगा ? और उन्हें बिना दुःखरूप माने विराग कैसे, होगा । फिर साधन-चतुष्टय-सम्पन्न कौन बनायेगा ? अन्तः-करणकी शुद्धिकी ओर प्रवृत्त कौन करेगा ? यहींपर साधु-सङ्गकी आवश्यकता अपेक्षित होती है । साधुकी साधुता दूसरोंको सन्मार्ग प्रदर्शित करनेमें होती है ।

पूर्वजन्मके कर्मोंके प्रभावसे जो रत्नाकर डाकू था, वही साधुके सङ्गके प्रभावसे महर्षि वाल्मीकि हो गया । उसकी दस्युता स्वयं साधुतामें परिणत हो गयी । दूसरोंको पीड़ित करने और उनका धन लूटनेमें ही जिसको आनन्द मिलता था, उसे साधु-सङ्गके कारण सही दिशा मिल गयी और अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वह नाम-जपमें लग गया ।

नाम-जपकी महिमा सर्वत्र विदित है । गीतामें भगवान्ने जपयज्ञको ही श्रेष्ठ बताया है—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** । राम-नामके जपकी ही महिमा थी, जिसके कारण वाल्मीकि संसारको भूलकर, देहका मोह त्यागकर अन्तरात्मामें डूब गये, तत्त्वज्ञ और ऋषि बन गये । साथ ही राम-कथाके सबसे बड़े कवि हो गये ।

किंतु ऋषिका पद अन्तिम नहीं है । 'कवि'की ऊँचाईतक ऋषिको पहुँचनेके लिये और भी अनेक गुणोंकी आवश्यकता होती है । बौद्धोंकी एक उक्ति है कि जबतक सभी जीव मुक्त नहीं हो जाते तबतक बुद्ध भी पूर्ण मुक्त नहीं होते । अवतारवादके पीछे भी यही विचार है । ईश्वर बार-बार अवतार लेकर हमें मुक्तिका मार्ग दिखलाते हैं । ईश्वरके अवतार तबतक होते रहेंगे जबतक एक भी जीव मुक्त होनेके लिये शेष

रह जायगा। ईश्वरको नित्यमुक्त होनेका सर्वदा ज्ञान रहता है। ईश्वरका एक पैर ब्रह्ममें तथा दूसरा जीवमें है। ज्यों ही सभी जीव मुक्त हो जायँगे, ईश्वरका ईश्वरत्व भी ब्रह्ममें विलीन हो जायगा।

प्रश्न यह है कि उस ईश्वर, ऋषि या ज्ञानीको, जो स्वयं मुक्त है, क्या आवश्यकता है कि वह दूसरोंको मुक्त करानेका प्रयत्न करे। यदि ज्ञानी दूसरोंके दुःखको दूर करनेका प्रयास करता है तो करुणा ही उसकी एकमात्र प्रवर्तिका है। दूसरोंके दुःखको दूर करनेकी इच्छा ही करुणा है। जो ज्ञानी होकर भी करुणाहीन है, उसकी प्रवृत्ति पर-कल्याणके प्रति नहीं होती।

विश्वके अन्तर्निहित तत्त्वका ज्ञान आत्मसाक्षात्कारके द्वारा ही सम्भव है, पर सामान्य भाषामें उसे रूप देना अत्यन्त दुष्कर है। करुणापूर्ण ऋषि भी तबतक गुरु नहीं बन सकते, जबतक उनमें ज्ञान देनेकी सामर्थ्य न हो। करुणा करुणा ही रह जाय—यदि क्रिया न हो। कविकी करुणा भाषाकी क्रियाके द्वारा काव्यरूप धारण करती है। सुकाव्यके माध्यमसे ही दर्शनको व्यावहारिक जीवनमें उतारनेका प्रयास हो सकता है। कविमें दर्शनके साथ-साथ करुणा एवं वर्णन-शक्तिका सामञ्जस्य रहता है।

वाल्मीकि ऋषिपदपर प्रतिष्ठित हो चुके थे। तत्त्वका साक्षात्कार उन्हें हो चुका था। नारदजीके मुखसे रामकथाका श्रवण उन्होंने कर लिया था। अपना आन्तरिक आनन्द वितरित करके विश्वके सकल नर-नारियोंका जीवन आनन्दमय बनानेकी कामनाने उनके चित्तको दोलायमान कर रखा था। सहसा एक दृश्यने उनकी इच्छामें गति भर दी। तामस-हारिणी तमसा नदी कल-कल करती हुई बह रही थी। उसका पावन तट वृक्षोंकी स्निग्ध छायासे शीतल था। वाल्मीकि वनकी शोभा निहारते हुए विचर रहे थे। पास हीं क्रौंच पक्षीका जोड़ा आनन्द-विहार कर रहा था। इतनेमें ही जीवद्रोही एक निषाद-(बहेलिये)ने उनमेंसे नर पक्षीको मार गिराया! क्रौंचीके विलापसे ऋषिके संवेदनशील हृदयमें करुण भाव उमड़ पड़ा। अकस्मात् उनके मुखसे यह श्लोकात्मक वैखरी वाक् प्रस्फुटित हुई—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(उत्तररामचरित)

करुणारूपी इच्छा एवं भाषारूपी सामर्थ्यका एक साथ ही उदय हो गया। ऋषि कवि बन गये। भवभूतिके स्मरणीय शब्दोंमें ब्रह्माकी उक्ति है—**'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आदिकविरसि।'**

काव्यकी दर्शनात्मकता सिद्ध हो गयी।

रामायण आदि काव्य है। इसका दर्शन परम आस्तिक है। मनु (२। ११)के अनुसार वेदको ही प्रमाण माननेवाले आस्तिक तथा वेदको प्रमाण न माननेवाले नास्तिक हैं—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

अतः रामायणका दर्शन निश्चितरूपसे आस्तिक है। रामायणकी वेदमूलकता क्या, वेदरूपता भी प्रसिद्ध है। परम्परासे मान्यता है कि रामके प्रकट होनेके साथ वेद भी रामायणके रूपमें प्रकट हुए—जैसा कि नागेश भट्ट आदि टीकाकारोंके रामायणके मङ्गल-पाठमें उल्लेख किया गया है।

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥

वाल्मीकिने स्पष्टरूपसे श्रीरामके मुँहसे भी आस्तिक दर्शनका प्रतिपादन किया है। मर्यादा-पालक राम जानते हैं कि आस्तिक दर्शन ही विश्वजनीन हैं। अतः श्रीराम भरतसे पूछते हैं—'तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणोंका सङ्ग तो नहीं

करते ? 'नास्तिक बुद्धिको परमार्थकी ओरसे विचलित करनेमें कुशल होते हैं तथा वास्तवमें अज्ञानी होते हुए भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित समझते हैं। उनका ज्ञान वेदके विरुद्ध होनेके कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी कोरी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं। जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार नास्तिकको भी समझना चाहिये'—

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥
(१००।३८-३९)

नास्तिकोंके सङ्गसे बुद्धि तर्क-वितर्कसे कुतर्कमें चली जाती है। फलतः विश्व-व्यवस्थाकी मर्यादाएँ दुर्बल होने लगती हैं। × × ×

वेदोंके अनुसार मनुष्यका परम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति है। दुःखोंका आत्यन्तिक नाश एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति ही मोक्ष है। ऋषि एवं कवि मोक्ष-मार्ग प्रदर्शित करते हैं। दर्शन एवं काव्य दोनोंका लक्ष्य मुक्ति है। दर्शन ज्ञानस्वरूप है, काव्य रसस्वरूप। एक बुद्धि-प्रधान है तो दूसरा भाव-प्रधान। दर्शनका लक्ष्य प्रकाशमय आत्मानुभव है, काव्यका लक्ष्य आनन्दमय आत्मानुभव। दर्शन ज्ञानयोगका साधन करता है और काव्य भावयोगका। ज्ञानयोगकी अपेक्षा भावयोग कहीं स्पृहणीय होता है। अतएव काव्य दर्शनकी अपेक्षा रमणीय होता है।

जहाँ दोनोंका समन्वय हो जाय वह दार्शनिक काव्य है। दार्शनिक काव्य ही काव्यका आदर्श है। कवित्वकी वास्तविक विशेषता तो उसके महर्षितुल्य काव्योचित प्रवचनमें ही है; अन्यथा वह आर्योचित सत्कवित्व नहीं कहा जा सकता, चाहे फिर वह पूर्णतः अलंकारशास्त्र-सम्पन्न और काव्य-सौन्दर्य-सम्पन्न ही क्यों न हो।

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु कथितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः॥

काव्य एवं दर्शनकी सफलता मुक्ति-मार्गको प्रदर्शित करनेमें निहित है। वाल्मीकिने रामायणमें रामके माध्यमसे मुक्ति-मार्गका वर्णन किया है। रामायणके अन्तर्गत दो शब्द हैं—'राम और 'अयन'। अयन शब्द मार्ग और आश्रयका वाचक है। राम ही जिसके आश्रय हैं, वह रामायण है। रामायणका दूसरा अर्थ है—रामका मार्ग। राम जिस मार्गसे गये वही प्रत्येक मनुष्यका मार्ग है। जिस मार्गपर चलनेसे राम मिलें वह भी रामका मार्ग है। रामको ईश्वर मानिये चाहे साधारण मनुष्य, रामायण शब्द मुक्तिका ही बोधक है। राम परब्रह्म परमेश्वर हैं, अतः उनके आश्रयमें जाकर और यतः मर्यादापुरुषोत्तमरूप हैं, अतः उनके आदर्शोंपर चलकर मुक्ति प्राप्त करना सहज है। 'राम' शब्दका अर्थ है योगियोंके लिये सुखद आनन्दमय रमणीय पूर्णब्रह्म। अतः रामायणका अर्थ हुआ आनन्दका मार्ग। यतः निरतिशय आनन्दकी अनुभूति ही मोक्ष है। अतः रामायण मनुष्यके परम पुरुषार्थ मोक्षका दाता है।

उपनिषदोंके अनुसार एक ही तत्त्व है, अन्य जगत्-प्रपञ्च मिथ्या है। ब्रह्म ही एकमात्र सत् वस्तु है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, किंतु मायासे अभिभूत होकर अपनेको मरणधर्मा, अनित्य एवं दुःखी समझने लगता है। शब्दान्तरसे अपने स्वरूपका ज्ञान ही मोक्ष है। सभी कुछ ब्रह्ममय है—यह ज्ञान ही मोक्षका कारण है। राम उसी ब्रह्मके वाचक हैं। रामायणके राम और वेदके ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। ब्रह्माके द्वारा कृत रामकी यह स्तुति मननीय है—**'सहस्रचरणः श्रीमान् शतशीर्षः सहस्रदृक्। त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्॥** (६।११७।२३) इस श्लोकमें **'सहस्रशीर्षा पुरुषः।**

सहस्राक्षस्सहस्रपात् । स भूमिं सर्वतस्पृत्वा-त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥' इससे प्रारब्ध पुरुषसूक्तके वचनका सानुरूप्य स्पष्ट है । अध्यात्मरामायणमें अहल्या रामके स्वरूपको **'सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण एकः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः'** कहकर निरूपण करती है । अतः रामायणका अर्थ है—ब्रह्मका मार्ग, स्वस्वरूपमें अधिष्ठित होनेका मार्ग, मुक्तिका मार्ग । अतएव मुक्तिकामी जन भी रामायणको आदर्श मानकर साधना करते हैं ।

रामायण नामसे ही नहीं वरन् कार्यमें भी मुक्ति-दायक है । काव्यका उद्देश्य है रस देना । काव्यकी कसौटीपर वही कृति खरी उतर सकती है, जो श्रोताको रसाप्लावित कर दे । रामायण आदिकाव्य है । इसका ही विश्लेषण कर अलङ्कारवादियोंने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है । यदि वे अलङ्कारी रामायणके रसमें अभिभूत नहीं हुए होते तो निश्चित ही वे रसको काव्यका मुख्य उद्देश्य भी नहीं मानते । रामायणसे निरन्तर रसकी वृष्टि होती रहती है । उपनिषदोंने ब्रह्मको रसमय ही कहा है, जिसे प्राप्त कर यह जीव आनन्दित हो जाता है—**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'** । रामायण निश्चित ही अपने श्रोताको रसानुभूति कराकर आनन्दित कर ब्रह्ममय बना देती है ।

रामके वनवाससे जहाँ दशरथके प्राण ही चले गये वहीं वृक्षोंपर भी इसका प्रभाव पड़ा । वे भी मर्मपीड़ित होकर फूल, अंकुर और कलियोंसहित मुरझा गये । नदियों और छोटे-बड़े तालाबोंके जल गरम हो गये । वनों और उपवनोंके पत्ते सूख गये । अयोध्यामें कोई भी प्रसन्न नहीं रह गया । सुमन्तके शब्दोंमें—

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ।
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥
न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रसरन्ति च ।
रामशोकाभिभूतं तं निष्कूजमभवद्वनम् ॥
(२ । ५९ । ४–६)

यह अनुभूति और समर्थ उद्भूतिकी पराकाष्ठा है । सर्वात्मत्वका इतना काव्यमय वर्णन रामसाहित्यको छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है ।

रामायणमें हमें मायाकी प्रबल शक्तिका भी संकेत मिलता है । स्वयं ब्रह्म श्रीराम मायाके वशमें होनेपर स्वस्वरूपको भूलकर ब्रह्मासे कहते हैं—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥
(६ । ११७ । १२)

हो सकता है कि श्रीरामने स्वयं ज्ञात होते हुए भी ब्रह्माजीको सम्मान देनेके लिये प्रश्न किया हो । किंतु कवि निश्चित ही मायाकी प्रबल शक्तिका वर्णन करना चाहता है । माया स्वयं ब्रह्मके ज्ञानको आवृत कर लेती है तब एक सद्गुरुकी आवश्यकता पड़ती है, जो **'तत्त्वमसि'** कहकर अज्ञानको हटाता है । रामायणमें उस गुरुका कार्य स्वयं ब्रह्माजीने किया है और श्रीरामके अज्ञानका नाश कर उनको ब्रह्मज्ञानी बना दिया है ।

निष्कर्ष यह कि दर्शनका उद्गम जिस दुःखसे होता है वही करुणारूपमें रामायणका प्रारम्भ-स्रोत है । दर्शनका एवं रामायणका लक्ष्य (एक ही) मुक्ति है । यही नहीं, रामायणमें दर्शनकी अनेक गुत्थियाँ सरल ढंगसे सुलझा दी गयी हैं । अतः रामायण पूर्ण-रूपसे दार्शनिक काव्य है । दर्शनके अध्येताको भी इस आर्ष काव्यसे लाभ उठाना चाहिये; भक्त तो उठाते ही हैं ।



परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखें

सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका प्रयत्न करना और यथासाध्य अधिकाधिक भगवान्‌का स्मरण करना एवं स्मरण होनेपर न भूलनेकी चेष्टा करना—ये बड़े ही उत्तम साधन हैं। सर्वत्र सबमें परमात्माको देखनेके साधनसे बहुत ही शीघ्र जीवन पलट सकता है। पाप, ताप, छल, दम्भ, द्रोह, वैर आदिका आप ही नाश हो जाता है। जो भी सामने आया, तत्काल उसमें भगवान् हैं, ऐसा स्मरण हो आनेसे उसके साथ दूषित बर्ताव हो ही नहीं सकता। नाटकमें नाटकका स्वामी या अपना साक्षात् पिता भी शिष्य बनकर आ सकता है। उसको स्वामी या पिता पहचानते हुए शिक्षकका जो नाट्य किया जाता है, वह स्वामीके आज्ञानुसार लीलावत् ही होता है। उसमें दोष प्रायः आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार आप भी विद्यार्थियों-को उनमें भगवान् हैं या स्वयं भगवान् ही उन स्वरूपोंमें प्रकट हो रहे हैं, ऐसा समझकर उन्हें पढ़ाइये। यही व्यवहार घरके लोगों, मित्रों, सम्बन्धियों, नौकरों आदिके साथ कीजिये तो बहुत ही शीघ्र समस्त दोषोंका ध्वंस सम्भव है। चित्तमें अपूर्व शान्ति और आनन्द तो इस साधनके संगी ही हैं। अतः सब प्रभुके स्वरूप ही हैं—ऐसा समझकर सबके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये।

दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव, विषम व्यवहार तभीतक होता है जबतक हम उन्हें आत्मासे अतिरिक्त कोई दूसरा समझते हैं। जब हम यह देखेंगे कि ये सब तो हमारे आत्मा ही हैं, तब बुरा बर्ताव कैसे होगा? अपने प्रति क्या कभी कोई बुरा बर्ताव करता है ? फिर जब वे हमें भगवान् दीखेंगे, तब तो हमारे पूज्य और सब प्रकारसे सेवाके योग्य बन जायँगे।

भगवान्‌के विधानमें आनन्द

कर्मके प्रत्येक फलमें भगवान्‌की दयाको देखना चाहिये। 'जैसे नारदजीको भगवान्‌ने विवाह नहीं करने दिया, वैसे ही समझना चाहिये कि मुझको भी इस काममें सफल नहीं किया। काम हो जाता तो मैं फँस जाता।' काम होनेपर यह विचार करना चाहिये कि 'यह मेरे पुरुषार्थका फल नहीं है और मुझे इसमें कोई आसक्ति या फलकी कामना भी नहीं करनी है। भगवान्‌ने इस काममें दया करके ही मुझे नियुक्त कर दिया है। अतएव भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की प्रीतिके लिये उत्साह, सावधानी और धर्मपूर्वक सत्य और न्यायको साथ रखते हुए मैं यह सेवा करूँगा। और काम न होनेपर 'न होनेमें ही कल्याण है इसीलिये भगवान्‌ने नहीं होने दिया—' यह विश्वास करके आनन्दमय रहना चाहिये। कामके होने और न होने दोनोंमें ही हर्ष-विषादका विकार न आने देकर दोनोंमें ही भगवान्‌की कृपाका अनुभव करना चाहिये। काम न होनेमें जैसे दुःखका विकार होता है, वैसे ही होनेमें सुखका विकार होता है। विकार होते ही भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है। न होनेमें तो भगवान्‌का स्मरण होता भी है, परंतु होनेसे भगवान्‌का स्मरण छूटना बहुत सम्भव है। अतएव किसी भी हालतमें मनमें विकार न आने देकर सदा प्रभुकी स्मृति बनी रहे और प्रभुका स्मरण करते हुए ही प्रभुके सौंपे हुए कार्यको प्रसन्नतापूर्वक करें—ऐसी भक्तकी धारणा होनी चाहिये।

भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास

जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक नित्य नये जालोंमें फँसता ही रहता है। हमलोग अनन्त जन्मोंसे यहीं करते आ रहे हैं। परंतु यह नहीं मानना चाहिये कि उबरनेकी कोई सूरत ही नहीं है। तुम्हें भगवान्‌पर श्रद्धा रखनी चाहिये कि वे उबारनेवाले हैं, उनकी शरण लेते ही सारे जाल सदाके लिये कट जाते हैं। घबड़ाओ नहीं, 'अटकी नाव', भगवत्कृपाके अनुभवरूपी अनुकूल वायुका एक

झोंका लगते ही चल पड़ेगी। भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करो। जो दुःख, कष्ट और विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें भगवत्कृपाका आशीर्वाद समझो और प्रत्येक कष्टके रूपमें कृपालु भगवान्‌के दर्शन कर उन्हें अपनी सारी सत्ता समर्पित करनेकी चेष्टा करो; कष्टोंका कृष्णरूपमें वरण करो, सिर चढ़ाओ, आलिङ्गन करो। परंतु उनसे छूटनेके लिये कभी भूलकर भी कुमार्गपर चलनेकी कायरताके वश मत होओ, लड़ते रहो—मनकी बुरी वृत्तियोंसे। शरीर और मनसे प्रसन्न रहनेकी निरन्तर चेष्टा करते रहो। भगवान्‌के नामका जप सदा करते रहो और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाओ।

नाम-जपकी महत्ता

भजन किये बिना विषयोंकी आसक्तिरूप अन्तःकरणका दोष नष्ट नहीं होता और जबतक विषयासक्ति रहती है, तबतक मन्दिरमें बैठकर ठाकुरजीकी पूजा करनेमें भी विषय ही ठाकुरजी बने रहते हैं, इसलिये वह भगवत्पूजन न होकर प्रकारान्तरसे विषयसेवन ही होता है; फिर दूकान-कारखाने आदिके काममें तो भगवद्बुद्धि होना बहुत ही कठिन है। भूलसे कभी-कभी मान लेते हैं कि भगवत्-सेवन हो रहा है; परंतु हृदयके भीतर घुसकर देखनेपर पता लगता है कि शुद्ध विषय-सेवन ही हो रहा है। होना चाहिये जगत्‌का विस्मरण होकर एकमात्र भगवान्‌का स्मरण, पर होता है भगवान्‌का विस्मरण होकर विषयोंका स्मरण। यही विषम समस्या है। यह कलियुग है। वातावरण बहुत अशुद्ध है। सभी क्षेत्रोंमें दम्भ, दूकानदारी, दिखौआपन आ गया है। अतएव भजनके सिवा और कोई भी उपाय नजर नहीं आता। मन लगे, न लगे; किसी प्रकार भी यदि चौबीस घंटोंमें सब मिलकर १८ घंटे नामजप होता रहे तो उसके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भक्तलोग तो आठ पहरमें साढ़े सात पहर भजन किया करते थे। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

साढ़े सात पहर जाय भक्तिर साधने। चारि दण्ड विश्राम ताओ नाहे कोनो दीने॥

काम छोड़कर अलग नहीं बैठ सकते हैं, बैठनेसे भी क्या होगा? भजनका अभ्यास न होगा तो नींद, आलस्य और प्रमादमें समय बीतेगा। अब जहाँ बड़े-बड़े कामोंके लिये राग-द्वेष होते हैं वहाँ फिर छोटी-छोटी बातोंके लिये होने लगेंगे। घर बड़ा हो या छोटा, है घर ही और राग-द्वेष अपने साथ है ही। कहीं भी चले जायँ, कितनी ही बड़ी या छोटी-से-छोटी दुनियामें रहें, ये राग-द्वेष अपना काम करते ही रहेंगे। अतएव अभी जिस दुनियामें हैं, इसीमें रहकर नाम-जप बढ़ाना चाहिये। बस, इसके लिये लाज-शरम छोड़कर अभ्यास डालना चाहिये। मुँहसे भगवन्नामका उच्चारण होता ही रहे। नाम-जप होता रहेगा तो नामके प्रभावसे बाकी बातें आप ही हो जायँगी। न होंगी तो भी आपत्ति नहीं। यदि भगवान्‌का नाम जपते-जपते मृत्यु हो जायगी तो भी जीवन सफल ही है।

प्रेमसे होनेवाला भजन

भगवान्‌में प्रेम होनेपर उनका नाम इतना प्रिय लगता है कि फिर भुलाये भी नहीं भूलता, छुड़ाये भी नहीं छूटता। भगवान्‌में प्रेम बढ़े, इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और नाम-जप किसी भी भावसे करते चले जाइये। जब नाममें यथार्थ रुचि हो जायगी, नामकी पूरी मिठास आ जायगी, तब तो नाम-जप अपने-आप ही होने लगेगा। फिर संख्याकी जरूरत नहीं होगी। संसार-सागरसे पार होनेका उपाय तो भगवान्‌का सहारा ही है। भगवान्‌ने कहा है कि 'जो मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करते हैं, उनको संसार-सागरसे मैं स्वयं बहुत जल्दी पार कर देता हूँ।' भगवान् स्वयं पार करनेको तैयार हैं, फिर और क्या चाहिये। आप मन लगाकर भजन करनेकी चेष्टा कीजिये। सच बात तो यह है कि आप पार होनेकी बात भी क्यों सोचते हैं? इस पार रहें या उस पार, यदि भगवान्‌का प्रेमसे भजन होता है तो दोनों ही पार उत्तम और आनन्दमय हैं। नरक-यन्त्रणा भोगते हुए भी यदि

भजन हो तो उत्तम है, तथा ऊँची-से-ऊँची गतिमें भी यदि भजन छूट जाय तो वह निकृष्ट और दुःखदायी है। इसीसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरवान। जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ॥

वे हमें इस संसार-सागरमें ही रखें, कोई आपत्ति नहीं, परंतु हृदयमेंसे कभी निकलें नहीं, आँखोंसे कभी ओझल न हों। हमें मुक्तिसे क्या प्रयोजन है। हमें तो प्रयोजन होना चाहिये उनके पादपद्मोंसे, उनके प्रेमसे, उनके स्मरणसे, फिर चाहे वे कहीं किसी भी हालतमें कैसे भी रखें।

एकान्तमें रहकर भगवान्‌का भजन करनेका मन होता है, तो यह तो मनकी उत्तम वासना है। परंतु याद रहे, जंगलोंमें जानेसे ही प्रियतम श्रीकृष्ण नहीं मिलते। श्रीकृष्णको प्रियतमरूपसे प्राप्त करनेके लिये तो गोपी-हृदयकी जरूरत है। गोपी-हृदय प्राप्त करनेकी साधना कीजिये। सारा प्रेम सब जगहसे हटाकर भुक्ति और मुक्तिकी लालसा जरा भी न रखकर उनसे अहैतुक प्रेम कीजिये। दिन-रात उनका चिन्तन करते-करते उनकी कृपासे जब गोपी-हृदयकी प्राप्ति होगी तब प्रियतमरूपसे वे प्राप्त हो सकेंगे। घबड़ाइये नहीं। परंतु एक क्षण भी उनका विस्मरण न होने दीजिये।

भजन साधन और साध्य दोनों है

जब सत्त्वगुणका आधिक्य होता है, तब भजन अधिक होता है। रजोगुणकी अधिकतासे सांसारिक कार्योंमें विशेष मन लगता है और तमोगुणमें आलस्यकी प्रधानता रहती है। गुण अनेक कारणोंसे घटते-बढ़ते रहते हैं—पूर्वसंस्कार, प्रारब्ध, वातावरण, अन्न, जल, सङ्ग, अध्ययन आदि अनेक कारण हैं। विषयोंमें मन अनादिकालसे उलझा है। बड़ा अभ्यास है विषयचिन्तन और विषय-सेवनका। असंख्य जीवनोंका यह अभ्यास यदि एक मानव-जीवनमें बदल जाय तो भगवान्‌की बड़ी कृपा समझनी चाहिये। कुछ महीनों या वर्षोंमें पूरा लाभ न हो तो निराश नहीं होना चाहिये। सत्सङ्ग, शुद्ध वातावरण, भजन आदिमें लाभ तो होता ही है। यह तो मानना ही पड़ेगा। यह ठीक है कि पूरी तत्परता नहीं आयी और न पूरी इच्छा ही हुई भगवान्‌की ओर बढ़नेकी। करते चले जाइये भजन। तत्परता आप ही आवेगी, और जब पूरी इच्छा हो जायगी, तब तो फिर कुछ करना भी शेष नहीं रह जायगा। पूरी इच्छा होनेकी देर है। पूरी इच्छा होनेपर भगवान् तत्काल ही उसे पूरी (पूर्ण) भी कर देते हैं। बात सुननेसे ही काम नहीं चलता, सुननेके साथ ही करना चाहिये। करते-करते कभी-न-कभी काम बन ही जायगा। बस, ऐसी बात यह एक ही है। करते जाइये और विश्वास कीजिये, निश्चय कीजिये कि काम बन जायगा—विश्वासः फलदायकः।

राम राम रटते रहो, जब लगि घटमें प्रान। कबहुँ दीनदयालके भनक परेगी कान ॥

भजन करते-करते जब भजनका बाह्यभाव न रहकर बिल्कुल आन्तरिक हो जायगा, भजनमें मन रमेगा, उसमें आनन्दकी उपलब्धि होगी, तब यथार्थ भजन होने लगेगा। एक भजन होता है साधनरूप, एक होता है साध्य; अभी साधनरूप भजन भी पूरा नहीं हो पाया है। साधनरूप भजन करते-करते जब वह स्वाभाविक होकर अन्तरसे होने लगेगा, जब माला-नियमकी जरा भी जरूरत नहीं पड़ेगी, अपने आप ही भजनमें मन लगा रहेगा, तब उसे साध्यरूप प्राप्त होगा; फिर छूटेगा नहीं। यह स्थिति इसी जन्ममें हो सकती है। आपके मनमें भगवत्कृपापर—भगवान्‌की अचिन्त्य दयाशक्तिपर विश्वास होना चाहिये। मनमें विश्वास करके जैसे बने वैसे ही लगनसे, बे-लगनसे भजन करते जाइये। भजनकी महिमा अनिर्वचनीय है। भगवत्-कृपासे आप ही कल्याण होगा।

गीताका कर्मयोग—१७

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क—१० पृष्ठ-संख्या ४०१से आगे)

सम्बन्ध—'मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो'— अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् अनेक हेतु देते हुए अगले दो श्लोकोंमें सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये भी कर्तव्य-कर्म (यज्ञ) करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षासे होता है (कर्तव्यपालनरूप) यज्ञसे ही वर्षा होती है। अपने कर्तव्य (यज्ञ) का ज्ञान वेदों (तथा पुराण, स्मृति आदि वेदानुकूल शास्त्रों) से होता है। वेद अविनाशी परमात्मासे प्रकट होते हैं। इसलिये वह सर्वव्यापी परमात्मा 'यज्ञ' (कर्तव्यकर्मपालनरूप) में नित्य प्रतिष्ठित है।

अन्वय—**भूतानि, अन्नात्, भवन्ति, अन्नसम्भवः, पर्जन्यात् (भवति), पर्जन्यः, यज्ञात्, भवति, यज्ञः, कर्मसमुद्भवः, कर्म, ब्रह्मोद्भवम्, ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवम्, विद्धि, तस्मात्, सर्वगतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम् ॥ १४-१५ ॥**

पद-व्याख्या—**भूतानि अन्नाद् भवन्ति**—सम्पूर्ण (जरायुज, उद्भिज्ज, अण्डज और स्वेदज) प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं।

अन्न शब्दकी निष्पत्ति 'अन्' प्राणने धातुसे हुई है। अतः जिससे प्राणोंका अस्तित्व रहता है अथवा जो प्राणोंको धारण करता है, वह 'अन्न' कहलाता है। जिस प्राणीका जो खाद्य है, जिसे ग्रहण करनेसे उसके शरीरकी उत्पत्ति, भरण और पुष्टि होती है, उसे ही यहाँ 'अन्न' नामसे कहा गया है। जैसे मिट्टीका कीड़ा मिट्टी खाकर जीता है, तो मिट्टी ही उसके लिये अन्न है। जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), उद्भिज्ज (वृक्षादि), अण्डज (पक्षी आदि) और स्वेदज (जूँ आदि)—ये चारों प्रकारके प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्नसे ही जीवित रहते हैं।

अन्नसम्भवः पर्जन्यात् (भवति)—अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है।

समस्त खाद्य-पदार्थोंकी उत्पत्ति जलसे होती है। घास-फूस, अनाज आदि तो वर्षासे होते ही हैं, मिट्टीके उत्पन्न होनेमें भी जल ही कारण है। अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदि शरीर-निर्वाहकी सभी सामग्रियाँ (स्थूल या सूक्ष्मरूपसे) जलसे सम्बन्ध रखती हैं और जलका आधार वर्षा है।

पर्जन्यः यज्ञाद् भवति—वर्षा यज्ञसे होती है।

यहाँ 'यज्ञ' शब्दका अर्थ 'अग्निहोत्र' है, जो समस्त कर्तव्य-कर्मोंका उपलक्षक है। गीताके सिद्धान्त एवं कर्मयोगके प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंका भलीभाँति पालन करना भी यज्ञ है (गीता १८। ४६)। निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये किये गये सभी कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आ जाते हैं।

उपनिषद्में एक कथा आती है। प्रजापति ब्रह्माजीने देवता, मनुष्य और असुर—इन तीनोंको रचकर उन्हें 'द'

इस अक्षरका उपदेश दिया। देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी अधिकता होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दमन करो' समझा। मनुष्योंने संग्रहकी प्रवृत्ति अधिक होनेके कारण 'दान करो' समझा। असुरोंमें हिंसा (दूसरोंको कष्ट देने) का भाव अधिक होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दया करो' समझा। इस प्रकार देवता, मनुष्य और असुर—तीनोंको दिये गये उपदेशका तात्पर्य दूसरोंका हित करनेमें ही है। वर्षाके समय मेघ जो 'दद·····' की गर्जना करता है, वह आज भी ब्रह्माजीके उपदेश (दमन करो, दान करो, दया करो इस रूपसे) कर्तव्य-कर्मोंकी याद दिलाता है (बृहदारण्यक० ५। २। १—३)।

यज्ञः कर्मसमुद्भवः—यज्ञ कर्मोंसे निष्पन्न होनेवाला है। लौकिक और शास्त्रीय सभी विहित कर्मोंका नाम यज्ञ है। ब्रह्मचारीके लिये अग्निहोत्र करना 'यज्ञ' है, स्त्रियोंके लिये रसोई बनाना ही 'यज्ञ' है (मनुस्मृति २। ६७)। आयुर्वेदका ज्ञाता केवल लोगोंके हितके लिये वैद्यक-कर्म करे तो उसके लिये वही 'यज्ञ' है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने अध्ययनको और व्यापारी अपने व्यापारको (यदि वह केवल दूसरोंके हितके लिये निष्कामभावसे किया जाय) 'यज्ञ' मान सकते हैं। इस प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, देश, कालकी मर्यादा रखकर निष्कामभावसे किये गये सभी शास्त्र-विहित कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ' रूप होते हैं। यज्ञ किसी भी प्रकारका हो क्रियाजन्य ही होता है।

संखिया, भिलावा आदि विषोंको भी वैद्यलोग जब शुद्ध करके औषधरूपमें देते हैं तो वे विष भी अमृतकी भाँति होकर बड़े-बड़े रोगोंको दूर कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार आसक्ति, कामना, पक्षपात, विषमता, अभिमान, स्वार्थ आदि—ये सब कर्मोंमें विषके समान हैं। कर्मोंके इस विषैले भागको निकाल देनेपर वे कर्म अमृतमय होकर जन्म-मरणरूप महान् रोगको दूर कर देनेवाले बन जाते हैं। ऐसे अमृतमय कर्म ही 'यज्ञ' कहलाते हैं।

कर्म ब्रह्मोद्भवम्—कर्मोंको (तू) वेदसे उत्पन्न (जान)।

वेद कर्तव्य-कर्मोंको करानेकी विधि बतलाते हैं (गीता ४। ३२)। मनुष्योंको कर्तव्य-कर्म करनेकी विधिका ज्ञान वेदसे होनेके कारण कर्मोंको वेदसे उत्पन्न कहा गया है। 'वेद' शब्दके अन्तर्गत ऋक्, यजुः, साम, अथर्वके साथ-साथ स्मृति, पुराण, इतिहास (रामायण, महाभारत) एवं तत्तत्सम्प्रदायके आचार्योंके अनुभव-वचन आदि समस्त वेदानुकूल सत्-शास्त्रोंका ग्रहण कर लेना चाहिये।

ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् विद्धि—वेदको अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुआ जान।

यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है। सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही वेद प्रकट हुए हैं (गीता १७। २३)। इस प्रकार परमात्मा सबके मूल हुए।

परमात्मासे वेद प्रकट हुए। वेदोंने कर्तव्यपालनकी विधि बतायी। मनुष्योंने उस कर्तव्यका पालन किया। उन कर्तव्य-कर्मोंसे यज्ञ हुआ और यज्ञसे वर्षा हुई। वर्षासे अन्न हुआ, अन्नसे प्राणी हुए और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्योंने यज्ञ किया; क्योंकि मनुष्यसे इतर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंद्वारा स्वतः ही यज्ञ (उपकार) होते रहते हैं। इस प्रकार यह सृष्टिचक्र चल रहा है।

'तस्मात् सर्वगतम् ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्'—इससे (सिद्ध होता है कि) सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है।

यहाँ 'ब्रह्म' पद अक्षर (परमात्मा) का वाचक है अतः सर्वगत (सर्वव्यापी) परमात्मा हैं, वेद नहीं। परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) में निरन्तर विराजमान रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मका पालन किया जाता है, वहीं परमात्मा रहते हैं।

अतः परमात्म-प्राप्तिके इच्छुक मनुष्यमात्र अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं (गीता १८ । ४५-४६) ।

शङ्का—परमात्मा जब सर्वव्यापी है, तब उन्हें केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा गया ? क्या वे अन्यत्र नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं ?

समाधान—परमात्मा तो सभी जगह समानरूपसे नित्य विराजमान हैं । वे अनित्य और एकदेशीय नहीं हैं । इसीलिये उन्हें यहाँ 'सर्वगत' कहा गया है । (यज्ञ) कर्तव्यकर्ममें नित्य प्रतिष्ठित कहनेका तात्पर्य है कि यज्ञ उनका उपलब्धि-स्थान है । जमीनमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही प्राप्त होता है, सब जगहसे नहीं । पाईपमें सर्वत्र जल रहनेपर भी जल वहींसे प्राप्त होता है, जहाँ टोंटी या छिद्र होता है । ऐसे ही सर्वगत होनेपर भी परमात्मा 'यज्ञ'से प्राप्त होते हैं ।

अपने लिये (कामनापूर्वक) कर्म करनेसे एवं जड़ता (शरीरादि) के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा आ जाती है । निष्कामभावपूर्वक लोक-हितार्थ अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे यह बाधा हट जाती है और नित्य-प्राप्त परमात्माकी प्राप्तिका अनुभव हो जाता है । यही कारण है कि भगवान् अर्जुनको, जो अपने कर्तव्यसे हटना चाहता था, अनेक युक्तियोंसे कर्तव्यका पालन करनेपर विशेषरूपसे बल दे रहे हैं । (क्रमशः)

ईश्वर-प्रणिधानकी साधना

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

एक थी स्त्री, भोली-भाली, सीधी-सादी, एकदम सरल । वह अपना हर काम कृष्णार्पण कर देती थी ।

यहाँतक कि चौका लीपनेपर जो गोबर बच जाता, उसका भी गोला बनाकर बाहर फेंक देती—'श्रीकृष्णार्पणमस्तु !' वह गोला जा चिपकता भगवान्‌की मूर्तिपर । पुजारी बेचारा हैरान मूर्तिको धोते-धोते । एक दिन वह स्त्री बीमार पड़ी । मृत्युको निकट आते देख उसने उसे भी (मृत्युको भी) कृष्णार्पण कर दिया । बस क्या था ? उसी समय मन्दिरकी मूर्ति खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ी ! स्वर्गसे विमान आया उस स्त्रीको लेने । उसे भी कृष्णार्पण कर दिया । विमान भी मन्दिरसे टकराकर चूर-चूर हो गया ।

× × ×

कैसी हृदयस्पर्शी कहानी है !

बचपनमें विनोबाने मातृमुखसे यह कहानी सुनी थी । इसीकी चर्चा करते हुए वे 'गीताप्रवचन'में गीताके नवें अध्यायका २७ वाँ श्लोक उद्धृत करते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

तुम जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवान्‌को अर्पित कर दो । जो कुछ भले-बुरे कर्म हमसे बन पड़ें, उन सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है ।

गुड़ेलका वह मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियाँ, तुलसीकी मञ्जरी और दूबके तिनके—इन्हें तुच्छ मत मानो—'तुका म्हणे चवी आलें जेंका मिश्रित विट्ठल !' 'तुका' (संत तुकाराम) कहता है कि जो भी राम-मिश्रित हो जाता है, उसमें स्वाद आ जाता है ।

ईश्वरार्पणका रहस्य बताते हुए विनोबा कहते हैं—

'कर्म तो करना है; किंतु फल प्रभुको अर्पित करना है। फलका विनियोग चित्तशुद्धिके लिये करना है। यहाँ-तक कि मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ और काम-क्रोधादिक विकार भी परमेश्वरको अर्पित करके छुट्टी पाना है। **'काम क्रोध आम्हीं वाहिले विट्ठलीं।'** (काम-क्रोध मैंने प्रभुके अर्पित कर दिये हैं।)

यहाँ न संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न किसीको मारना। केवल श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

कैसी बढ़िया है यह उक्ति! इसीका नाम है—ईश्वर-प्रणिधान। प्रणिधान किसका?—ईश्वरका। ईश्वर कौन?—पतञ्जलि (योगदर्शन १ । २४—२६)के अनुसार ईश्वर है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

जो क्लेश, कर्म, उनके फल और वासनाओंसे अछूता, निर्लिप्त, सर्वज्ञ, कालातीत और गुरुओंका भी गुरु—परमगुरु है, वही ईश्वर है।

'प्रणिधान'का अर्थ है—अच्छी तरह निधान। और 'ईश्वर-प्रणिधान'का अर्थ है—अच्छी तरह, अत्यन्त प्रेमपूर्वक, परम विश्वासपूर्वक ईश्वरकी शरण, ईश्वरकी प्रपत्ति, ईश्वरका आश्रय।

सीधे शब्दोंमें कहें तो 'ईश्वर-प्रणिधान'का अर्थ है—सब कुछ श्रीकृष्णार्पण।

अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ सभी कर्मोंका प्रभुचरणोंमें समर्पण—यही है प्रभुका प्रणिधान। भगवान् पतञ्जलिने 'योगदर्शन' (२ । १)में बड़ी महिमा गायी है ईश्वर-प्रणिधानकी। वे कहते हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगाः।

क्रियायोगके तीन अङ्गोंमेंसे एक है—ईश्वर-प्रणिधान।

अष्टाङ्गयोगका दूसरा अङ्ग है—'नियम', जिसका पाँचवाँ उपाङ्ग है—ईश्वरप्रणिधान। **शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।** (पवित्रता, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।)
(योगदर्शन २ । ३२)

क्या होता है ईश्वर-प्रणिधानसे?

ईश्वर-प्रणिधानसे प्राप्त होती है—समाधि। कैसे?—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।　　(योगदर्शन १ । २३)

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (योग० २ । ४५)

ईश्वर-प्रणिधानी साधकके स्वरूपका वर्णन करते हुए वेदव्यास भगवान् उसे अमृतभोगभोगी बताते हैं—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभोगी॥

उसके संसारके बीज—अविद्या आदि क्लेश जल-भुनकर साफ हो जाते हैं। जन्म-मरणका चक्र समाप्त हो जाता है। नित्य परमात्मामें वह युक्त हो जाता है, फिर वह चाहे बिस्तरपर पड़ा रहे, चाहे घूमता रहे। पर उसका उपाय? उपाय है—**तज्जपस्तदर्थभावनम्।** (योगदर्शन १ । २८) अर्थात् मनोयोगसे, मन लगाकर ईश्वरके वाचक प्रणवका जप, ॐकारका जप; उसके अर्थभूत ईश्वरका पुनः-पुनः चिन्तन और ध्यान।

तो ॐका जप और ॐके ईश्वर-स्वरूपका चिन्तन यही तो ठहरा ईश्वर-प्रणिधान। हाँ, यही है।

ॐका जप कैसे किया जाय?—साधककी सहज जिज्ञासा है।

योगसम्बन्धी विशाल साहित्यमें ॐके जपकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। जो अपनेको अनुकूल लगे, उसे ग्रहणकर उसकी साधनामें लगना चाहिये। विधियाँ गुरुसे, अधिकारीसे समझें।

*

पतञ्जलिका कहना है कि ॐके जपके साथ-साथ उसके अर्थकी भावना भी चलती रहनी चाहिये। शङ्कालु साधक पूछ उठता है कि यह कैसे होगा? दोनों बातें साथ-साथ कैसे चलेंगी।

व्यासभाष्यमें यह कहकर इसका तारतम्य बैठाया गया है कि जपके आगे-पीछे अर्थ-भावना, स्वरूप-भावना चलनी चाहिये।

शब्द और अर्थका विवाद बहुत पुराना है। कोई शब्दपर जोर देता है, कोई अर्थपर। दोनोंका नित्य सम्बन्ध है, अविनाभावसम्बन्ध है—सिद्धे शब्दार्थे-सम्बन्धे।

कोई कहता है—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

कोई कहता है कि यास्ककी तरह बिना समझे मन्त्रजपका लाभ ही क्या? वह तो गदहेपर वेद लादने जैसा हुआ।

कौत्सका अपर पक्ष है, पर शायद यास्क भी यह पसंद न करते कि गायत्रीमन्त्र, उसके मूल रूपको बदलकर किसी अन्य शब्दावलीमें जपा जाता।

'अप्रबुद्ध' महोदयने इस विवादका समन्वय निकालनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं–'मन्त्रार्थ और शब्दार्थ दो भिन्न वस्तुएँ हैं, जैसे संगीतमें राग और रस। पर ये दोनों मिलकर ही–स रे ग म····शब्द और अर्थ मिलकर ही—रसकी निष्पत्ति करते हैं। रागसे रसकी शोभा है और रससे रागकी। उसी प्रकार मन्त्रके शब्दोंके उच्चारणसे उनकी ध्वनिसे जो लहरियाँ उठती हैं, वे ही वाञ्छित सुफल प्रस्तुत करती हैं। वाञ्छित परिणाम ही मन्त्रका वास्तविक अर्थ है। ॐके जपसे जापक विश्वब्रह्माण्डके साथ अपने एकत्वकी अनुभूति करेगा और ॐके अर्थ-चिन्तनसे उसे अपने शुद्ध स्वरूपकी चेतना होगी'[1]।

ॐके जपसे—प्रणवके जपसे होता क्या है? पतञ्जलि (योगदर्शन १। २९में) उत्तर देते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

इससे होता है अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान और उससे होता है उन अन्तरायोंका अभाव जो योगमार्गमें साधकको हैरान किया करते हैं। और, अन्तराय कोई एक-दो हैं?—नहीं, नौ हैं बड़े-बड़े और पाँच हैं उनके जोड़ीदार। कुल मिलाकर चौदह। (योगदर्शन (१। ३०-३१)-के सूत्र हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये मुख्य हैं।

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास—ये हैं सहयोगी। तो इन चौदह अन्तरायों और प्रतिबन्धकोंसे छुटकारा मिलता है ॐके जपसे, अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान तो होता ही है।

ऐसी है ईश्वर-प्रणिधानकी साधना। साधक इसमें प्रवृत्त हुआ कि उसके साधनमार्गके विघ्नोंका पत्ता कटा और आत्मदर्शन हुआ। लगनेभरकी आवश्यकता है।

मोटी-सी बात है—कर्मोंको कृष्णार्पण किया, ॐकी शरण ली कि सारी झंझटें समाप्त। फिर तो प्रकाश-ही-प्रकाश है, आनन्द-ही-आनन्द है। पर साधक लगे तो सही। साधना होनेपर सिद्धि तो मिलेगी ही।

१. अप्रबुद्ध—दि साईंस आव्‌ योग, खण्ड १ पृष्ठ १०३—१०७।

प्रभु हृदयमें पधारे कि मानवका कल्याण हुआ ।

सारांश यह कि—

ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ है—सारे कर्मोंको ईश्वरार्पण कर देना । अच्छा, भला जो कुछ करता हूँ, सब तेरा ही है—**'नारायणाय समर्पये तत् ।'**

ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग भी है, अष्टाङ्गयोगके 'नियम'का उपाङ्ग भी ।

ईश्वर-प्रणिधानका मार्ग है—निर्लिप्त, सर्वज्ञ, कालातीत, परमगुरु परमेश्वरके वाचक नाम ॐका जप । ॐके जपके साथ ईश्वरका स्वरूप-चिन्तन भी आवश्यक है ।

ईश्वर-प्रणिधानसे होता है योगके अन्तरायोंका शमन ।

ईश्वर-प्रणिधानसे होता है प्रत्येक चेतनाका साक्षात्कार ।

ईश्वर-प्रणिधानसे प्राप्त होती है—निर्बीज समाधि ।

समाधि है चरम सिद्धि ।

आइये, हम इस साधन-मार्गका आश्रय लेकर अपना जीवन सफल करें ।

सूर-पञ्चशतीके संदर्भमें—

महाकवि सूरदासकी उपासना-पद्धति

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल ओझा, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

(गताङ्क १०, पृष्ठ-संख्या ३९५ से आगे)

(२)

महाकवि सूरको अपने आराध्यकी समस्त लीलाओंकी प्रतीति अपने अन्तश्चक्षुओंसे सहज ही हो जाती थी और तत्काल वे तदनुरूप पद-रचना कर कृष्णको अर्पित कर देते थे । कहते हैं कि एक बार जब सूरदास नवनीत-प्रियके दर्शनके लिये गोकुल आये तो गोस्वामीजीके पुत्रोंने उनकी परीक्षा लेनी चाही । ग्रीष्मऋतु थी, अतः नवनीत-प्रियको वस्त्र न पहनाकर केवल आभूषणोंसे शृङ्गार कर दिया । जैसे ही दर्शनके लिये पट खुले, महाकविने विग्रहके दर्शन अन्तर्मनमें कर लिये । इस अद्भुत स्वरूपको देखकर वे भाव-विभोर हो उठे और उन्होंने पद गाया—

देखे री हरि नंगम-नंग ।
जल-सुत भूषण अंग विराजत, बसन हीन छबि उठत तरंग ॥

इस तरह यद्यपि दिनचर्याके प्रत्येक प्रसङ्गपर सूरदासके सहस्रों मनमुग्धकारी पद मिलते हैं, किंतु जहाँ उनकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा प्रकाशमें आयी है, वह है बाल-लीलाके लोकोत्तर माधुर्यसे पगे हुए पद । खेलने जानेके लिये माँ-बेटेका वार्तालाप कैसा सजीव मनोहारी बन पड़ा है; देखें—

खेलन जाहु बाल सब टेरत ।
यह सुनि कान्ह भए अति आतुर, द्वारे तन फिरि हेरत ॥
बार-बार हरि मातुहि बूझत, कहि चौगान कहाँ है ?
दधि-मथनी के पाछैं देखौ, लै मैं धरयौ तहाँ है ॥
लै चौगान-बटा अपनैं कर प्रभु आये घर बाहर ।
सूर-स्याम बूझत सब ग्वालिन खेलौगे किहिं ठाहर ॥

खेल-खेलमें कृष्ण हार गये । लाड़ले तो थे ही, उनमें अपने सामाजिक बड़प्पनकी चेतना भी थी । अकड़ गये । पर सखावृन्द ही कहाँ छोड़नेवाले थे ? वे झुँझलाकर बोल उठे वाह—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैया ?
जाँत-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारै गैयाँ !
रूठहिं करै तासौं को खेलैं, रहे बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाऊँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ ॥

(सूरसा० दशम स्कन्ध २४५)

× × ×

आपुनि हारि सखनि सौं झगरत यह कहि दियौ पठाइ ।
सूरस्याम उठि चले रोइ कै जननी पूछति धाइ ॥

कान्हने जड़ दी शिकायत माँसे बलदाऊकी—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसौं कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात ।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसकात ॥
तू मोही कौ मारन सीखी, दाउहिं कबहूँ न खीझै ।
मोहन-मुख रिस की ये बातें जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
(दशम स्कन्ध २१५)

यशोदा लाड़लेको मनाते हुए कहती हैं—

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

लेकिन कृष्ण रूठ गये सो रूठ ही गये, घोषित कर दिया ।

खेलन अब मेरी जाइ बलैया ।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि सँग तबहिं खिझत बलमैया ॥
मोसौं कहत तात बसुदेव कौ, देवकि तेरी मैया ।
मोल लियो कछु दै करि तिनकौं करि-करि जतन बढ़ैया ॥
अब बाबा तू कहत नंद सौं, जसुमति सौं कहै मैया ।
ऐसैं कहि सब मोहिं खिझावत, तब उठि चल्यौ खिसैया ॥
(दशम स्कन्ध २१७)

मधुर-भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति सूर-काव्यमें तब होती है, जब कृष्णका गोपियोंसे सम्पर्क होता है । माखन-चोरीके प्रसङ्गमें तो व्रज-नारियोंमें सहज क्रीड़ा और वात्सल्यका भाव ही दिखायी देता है—

हरिके बाल-चरित अनूप ।
निरखि रहीं व्रजनारि इकटक अंग-अंग प्रतिरूप ॥'

और जब एक दिन—

गए स्याम तिहिं ग्वालनि कैं घर ।
देख्यौ द्वार नहीं कोऊ, इत-उत चितै, चले तब भीतर ॥
हरि आवत गोपी जब जान्यौ आपुन रही छपाइ ।
सूनें सदन मथनियाँ कैं ढिंग, बैठि रहे अरगाइ ॥
माखन भरी कमोरी देखत लै-लै लागे खान ।
चितै रहै मनि-खंभ-छाँह तन, तासौं करत सयान ॥
प्रथम आजु मैं चोरी आयौ भलो बन्यो है संग ।
आपु खात प्रतिबिम्ब खवावत, गिरत कहत, का रंग ?
सुनि-सुनि बात स्याम के मुख की उमँगि उठी ब्रजनारी ।
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालि-मुख तब भजि चले मुरारी ॥
(दशम स्कन्ध)

किंतु सही मानेमें रति-भावका उदय तो राधा-कृष्णके मिलापसे ही प्रारम्भ होता है । जब 'खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी' तो—'औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी' और तब प्रथम परिचयका यह वार्तालाप चलता है दोनोंके मध्य—

पूछत स्याम कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ॥
काहे को हम ब्रज तैं आवति, खेलति रहहिं आपनी पौरी ।
सुनत रहतिं स्रवननि नंद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि चोरी ॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥

जैसा कि कहा जा चुका है, पुष्टिमार्गमें भक्त अपने आराध्यको परकीया-भावसे भजता है; तभी उसमें अनन्य आसक्ति उत्पन्न होती है । हृदयकी सभी उद्दाम मनो-वृत्तियोंको आराध्यके प्रति निवेदित किये बिना तल्लीनता-की चरम सिद्धि कैसे मिले । विधि-निषेधका वहाँ क्या मूल्य है ! जीव और ब्रह्मके बीच जो एक दूरी है, उसको विरहीकी उदग्रताके बिना कैसे पाटा जा सकता है ? अध्यात्मके इस गुह्य रहस्यको समझे बिना सूर-काव्यके साथ न तो न्याय ही किया जा सकता है और न उसकी समस्त अर्थवत्ता, उसका अप्रतिम सौष्ठव ही हृदयङ्गम किया जा सकता है । सूरका श्रृङ्गारवर्णन हृदयमें सात्त्विक भाव ही जागृत करता है । इस मर्मको समझनेके लिये गोपियोंके बादके महाविरहको ध्यानमें रखकर ही अनुभव किया जा सकता है । यह भक्तिका ही एक अङ्ग है । श्रृङ्गार श्रीकृष्णकी अष्टयाम-सेवाका अङ्ग ही है, किंतु विरह ! उसे तो जीवकी ब्रह्मसे विरह-भावनाके अतिरिक्त कुछ समझा ही नहीं जा सकता । चीर-

हरण, रास आदि लीलाओंको इसी प्रसङ्गमें देखा जाना चाहिये । गोपियाँ मनसे कृष्णको पतिके रूपसे ही चाहती हैं, इसीलिये तो—

गौरीपति पूजति ब्रजनारि ।
नेम-धर्म सौं रहतिं क्रियाजुत बहुत करतिं मनुहारि ॥
यहै कहतिं पति देहु उमापति गिरिधर नंद-कुमार ।

जब अपने वस्त्रालङ्कार आदि तटपर रखकर यमुनामें स्नान करने प्रवेश करती हैं तो—

'आपु कदम चढ़ि देखत स्याम ।'

और सोचते हैं—

'वर्ष भर व्रत नेम-संयम, स्रम कियौ मोहिं काज ।
कैसे हू मोहिं भजै कोऊ, मोहिं बिरद की लाज ॥'

और—

'कृपानाथ कृपाल भए तब, जानि जन की पीर ।
सूर प्रभु अनुमान कीन्हौं हरौं इनके चीर ॥'

गोपियोंने बहुत चिरौरी-विनती की कृष्णकी अपने वस्त्र लौटानेके लिये, तो उस ब्रह्मने जीवसे कहा—

'लाज ओट यह दूरि करौ ।' और तब यह जानकर कि—

दृढ़ व्रत कियौ मेरैं हेत ।
धन्य धनि कह्यो नंद-नंदन, जाहु सबै निकेत ॥
करौं पूरन काम तुम्हरौ, सरद रास रचाइ ।
हरष भई यह सुनत गोपी, रहीं सीस नवाइ ॥
सबनि कौं अँग परसि कीन्हौं, सुफल व्रतव्यवहार ।
सूर-प्रभु सुख दियौ मिलि कै, ब्रज चल्यौ सुकुमार ॥
(दशमस्कन्ध)

शरद्-कालमें रास रचानेके अपने वचनको पूर्ण करनेके लिये ही—

सरद निसि देखि हरि हरष पायौ ।
विपिन बृन्दारमन, सुभग फूले सुमन, रास रुचि श्यामकें मनहि आयौ ॥

और—

परम रमनीक जमुना-पुलिन जहाँ बिबिध बहै पवन आनंद जागौ ।

पर जाकर—

........................अधर धरि बेनु सुललित बजाई ।
नाम लै लै सकल गोप-कन्यानि के सबनि कैं स्रवन वह धुनि सुनाई ॥

सुनत बन बेनु-धुनि चलीं नारी ।
लोक लज्जा निदरि, भवन तजि, सुंदरि मिलीं बन जाइ कै बन-बिहारी ॥

उस अवर्णनीय, दिव्य रास-लीलाका वर्णन कैसे किया जाय ? वह तो मन, बुद्धि और वाणीके लिये सर्वथा अगम्य विषय है । प्रभु-कृपापात्र कोई विरला भाग्यवान् ही उस दिव्यानन्दका अनुभव कभी प्रभु कृपासे ही कर सकता है । महाकविका एक भाव-चित्र यहाँ दर्शनीय है—

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै ।
जो कहौं, कौन मानै, जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै ॥
भाव सौं भजै, बिनु भावमैं ये नहीं भावहिं माहिं ध्यानहिं बसावै ॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस-दंपति भजन-सार गाऊँ ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोऊ रहैं नर-देह पाऊँ ॥
(दशमस्कन्ध)

(क्रमशः)

भगवान्‌की दिव्य लीलाकी महिमा

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ४०)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् परीक्षित !) 'जो धीर पुरुष भगवान् (परब्रह्म या विष्णुरूपी) श्रीकृष्ण-द्वारा व्रजयुवतियोंके साथ किये गये इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धा-विधिसहित बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत शीघ्र ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके हृदयके रोग—काम (आदि मनोविकारों) से (सदाके लिये) छुटकारा पा जाता है ।'

जगज्जननी सीताकी रूपछवि

'सिय सुंदरता बरनि न जाई'

(लेखक—डॉ० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय)

काव्य **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का प्रतीक होता है। आदिकाव्य तीनोंकी खानि है। अन्य उत्कृष्ट काव्य भी सत्य, शिव और सौन्दर्यको अपना लक्ष्य मानते हैं। यहाँ हम भगवती सीताके सौन्दर्य-चित्रणमें उसकी झाँकी लें। आदिकवि वाल्मीकिकी दृष्टिमें सीताका सौन्दर्य अनुपम एवं अद्वितीय है। आद्यकवि अकम्पननामक राक्षसद्वारा रावणसे कहलाते हैं—

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत्॥
(वाल्मीकि० रा० ३। ३१। ३०)

'सीताके रूपकी समानता कोई भी देवकन्या, गन्धर्व-कन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या नहीं कर सकती; फिर मनुष्यजातिकी किसी स्त्रीकी तो बात ही क्या है।'

थोड़े-से शब्दान्तरसे शूर्पणखा-सदृश राक्षसी भी रावणसे यही कहती है—

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी।
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले॥
(वा० रा० ३। ३४। १८)

'देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंकी स्त्रियोंमें भी कोई उसके समान सुन्दरी नहीं है। इस भूतलपर मैंने वैसी रूपवती नारी पहले कभी नहीं देखी।'

उनके रूप-सौन्दर्यका चित्रण करते हुए वह कहती है कि 'सीता विशालाक्षी एवं पूर्णचन्द्र-सदृश सुन्दर मुखवाली है। उसके केश, नासिका, ऊरु तथा रूप अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर हैं। वह दण्डकवनकी देवी एवं दूसरी लक्ष्मीके समान शोभासम्पन्न है। उसके शरीरका वर्ण तप्त-स्वर्ण-कान्तियुक्त, नख अरुणाभ तथा उच्च हैं। उसके समस्त अङ्ग सुडौल एवं कटिभाग अत्यन्त सुन्दर हैं—

सा सुकेशी सुनासोरूः सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा॥
(वा० रा० ३। ३४। १६-१७)

सीताके रूपपर मुग्ध हो वह तो यहाँतक कहती है कि सीता जिसकी भार्या हो और वह हर्षमें भरकर जिसका आलिङ्गन करे, समस्त लोकमें उसीका जीवन इन्द्रसे भी अधिक भाग्यशाली है। आद्यकविके शब्द हैं—

यस्य सीता भवेद्भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात्॥
(वा० रा० ३। ३४। १९)

वस्तुतः स्वयं रावण भी उस रूपका अवलोकन करता हुआ खड़ा-का-खड़ा रह गया। आश्चर्यचकित हो वह पूछने लगा—'शुभानने! तुम श्री, ह्री, कीर्ति, शुभस्वरूपा लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो! अथवा हे वरारोहे! तुम भूति या स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली कामदेवकी पत्नी रति तो नहीं हो!' आदिकविके शब्दोंमें देखिये—

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी॥
(वा० रा० ३। ४६। १७)

इसी प्रकार वाल्मीकिने सीताकी अप्रतिम रूपराशिको अपने निर्निमेष नेत्रोंसे अनेक स्थलोंपर निरखा है। वस्तुतः उनके अनुसार वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं—

देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी।
(वा० रा० १। ७७। २८)

आदिकवि वाल्मीकिकी ही भाँति आधुनिक वैष्णव कवि मैथिलीशरण गुप्तने भी 'साकेत'में सीताके नख-

शिखका सम्यक् वर्णन किया है; किंतु उनके इस सौन्दर्य-चित्रणमें रीतिकालीन कवियोंका स्मरण हो जाता है; क्योंकि वह सामान्योन्मुख न होकर विशेषोन्मुख है। यथा—

अंकुर हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जनमातृ-गर्वमय कुशल वदन-भवभावन।
× × × ×
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से,
थे पत्र-पुंजमें अलग प्रसून प्रकट-से।
कन्धे ढककर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक-से लहर रहे थे उनके॥
मुख धर्म-बिन्दुमय ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कंटकित नाल सुपुलकित भुज-सा।
पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं,
तब नख ज्योति मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं॥
पर पग उठनेमें भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियोंसे सुहाग-सा झड़ता।
तनु गौर केतकी-कुसुम-कलीकी गाभा,
थी अंग सुरभिके संग तरंगित आभा॥
(अष्टमसर्ग)

यद्यपि तुलसीकी सीता भी अनिन्द्य एवं अपूर्व सुन्दरी हैं, किंतु मातृभाव होनेके कारण उनका सौन्दर्याङ्कन मर्यादित तथा आदर्शपूर्ण है। वे जगदम्बा सीतामें अप्राकृत, दिव्य-चिन्मय रूपके दर्शन करते हैं। वस्तुतः काव्यकी त्रिगुणात्मक एवं मायिक उपमाएँ उस अलौकिक रूप-राशिके सौन्दर्य-चित्रणमें तुच्छ, हीन एवं सर्वथा असमर्थ हैं। कारण, संसारमें कोई ऐसी रूपवती रमणी है ही नहीं जिसके साथ सीताके सौन्दर्यकी उपमा दी जाय। 'मानस'की पंक्तियाँ देखिये—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया
(मानस १। २४६। १–२)

रूप-सौन्दर्यका बिम्ब ग्रहण करानेमें काव्यके साथ मर्यादा कैसी सफल है! संसारकी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, श्रेष्ठ देवाङ्गनाएँ भी उनकी रूप-सुषमाके समक्ष नगण्य एवं दोषयुक्त ठहरती हैं। कवि गिरा (सरस्वती), पार्वती और रतिमें भी उपमान होनेकी योग्यता नहीं देखता; क्योंकि इन तीनोंमें कुछ-न-कुछ दोष हैं; यथा—

गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमासम किमि बैदेही॥
(मानस १। २४६। ३)

तो भला, सीताको किसका पटतर दिया जाय! वाल्मीकिने सीताकी उपमा कमलरहित लक्ष्मीसे दी है[1], परंतु तुलसीकी दृष्टिमें सामान्य साधनोंसे उत्पन्न वह लक्ष्मी तो नगण्य है ही, यदि उनकी कल्पनानुसार एक विशिष्ट प्रक्रियासे दिव्य लक्ष्मीका उद्भव हो सके तो वह सीताके सौन्दर्यकी तुलना कर सकेगी—इसमें भी उन्हें सन्देह है। तुलसीकी सौन्दर्यभावना देखिये—

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
(मानस १। २४६। ४)

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥
(मानस १। २४७)

हनुमन्नाटकमें सीताके अङ्गोंसे स्पर्धा रखनेवाले प्राकृतिक उपादानोंके प्रति वियोगी राम आशङ्कित हो उठते हैं कि उनकी अनुपस्थितिमें उन्होंने उसे (सीताको) मारकर उसके विभिन्न अङ्गोंको बाँट लिया और अब सीताके न रहनेपर उन्हें सौन्दर्य-प्रदर्शनका अवसर प्राप्त हो गया है! राम विलाप करते हुए कहते हैं कि कटिप्रदेशको सिंहोंने, मुस्कानको चन्द्रमाने, नेत्रोंको हरिणोंने, देहकान्तिको चम्पाकी कलियोंने मधुर-

१–तामुत्तमां त्रिलोकानां पद्महीनामिव श्रियम्। विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह॥
(वा० रा० ३। ४६। १५)

भाषणको कोकिलोंने और हाय, तुम्हारी चालको हाथियों तथा हंसोंने न जाने किस प्रकार बाँट लिया होगा ! (हनुमन्नाटक ५ । ३) ।

तुलसीने भी कुछ इसी प्रकारका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है । सीताके सुन्दर अङ्गोंसे ईर्ष्या रखनेवाले प्राकृतिक उपादान विरही रामको व्यंग करतेसे प्रतीत होते हैं । राम विलाप करते हुए कहते हैं—

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुंदकली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥
बरुनपास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥
(मानस ३ । ३० । ५–७)

वाल्मीकिने सीताको 'पूर्णेन्दुसदृशानना' (वा० रा० ३ । ३४ । १५) कहा है; परंतु तुलसीके राम सीताके मुख-सौन्दर्यके समक्ष चन्द्रमाको मलिन एवं निस्तेज पाते हैं; क्योंकि वह कालिमायुक्त एवं अनेक अवगुणोंका आकर है । रचना-चातुर्यमें रूपमाधुर्यकी विजय देखें—

जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक ॥

घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई । ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई ॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही । अवगुन बहुत चंद्रमा तोही ॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हें । होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे ॥
(मानस १ । २३७ से २३८ । २ तक)

केशवकृत 'रामचन्द्रिका'में रामके साथ वन-पथपर जाती हुई जानकीके मुख-सौन्दर्यका अवलोकन कर एक ग्रामबाला 'चन्द्रमासी चन्द्रमुखी सब जग जानिए, (रा० च० ९ । ४०) कहकर उसे चन्द्रमाके समान बतलाती है, किंतु दूसरी ग्रामवधू चन्द्रमाको सदोष बतलाकर सौन्दर्य, सुगंध, सुकोमलता एवं निर्मलताकी दृष्टिसे सीताके मुखको 'केवल कमलवत्' कहती है—

पून्यो ई को पूरन पै आन दिन ऊनो ऊनो,
छन छन छीन होत छीलरके जल सो ।
चन्द सो जो बरनत रामचंद्र की दोहाई,
सोई मतिमंद कवि केशव मुसल सो ॥
सुंदर सुबास अरु कोमल अमल अति,
सीता जू को मुख केवल कमल सो ।
(९ । ४)

परंतु तीसरी सखी दोनोंके मतोंका खण्डन करके कहती है कि सीताके मुखके समान न तो चन्द्रमा है और न कमल ही; क्योंकि चन्द्रमा केवल रात्रिमें प्रकाशित रहता है और कमल केवल दिनमें प्रफुल्लित रहता है; परंतु सीताका मुख तो अहर्निश आनन्ददायक है; अतएव वह अपना अभिमत प्रकट करती है कि इस (सीताके) मुखके समान यही मुख है । (रा० चं० ९ । ४२) अनन्वयालंकारका कैसा सटीक उदाहरण है ! देखिये—

बासर ही कमल रजनि ही में चंद्रमुख,
बासर हू रजनि बिराजै जग बंदरी ।
देखे मुख भावै अनदेखई कमलचंद्र,
ताते मुख मुखै सखी कमलै न चद्री ॥
(रा० चं० ९ । ४२)

सीताको कमलिनी तथा कुसुमसदृश सुकुमार एवं कोमलाङ्गी कहते हुए हरिऔधजीने 'वैदेही वनवास' (२ । ३१)में कहा है—

कमलिनी-सी जो है सुकुमार, कुसुम-कोमल है जिसका गात ।

जनककी वाटिकामें श्रीराम जनककिशोरीके अलौकिक रूप-माधुर्यको देखकर मुग्ध हो जाते हैं और अनेक प्रकारसे उसका बखान करते हुए प्रसन्नराघव (२।२६)में कहते हैं कि सीताका अनिर्वचनीय दर्शन, नव-यौवनका सर्वस्व, भोगका आश्रयस्थान, नेत्रोंका सौभाग्य, यौवनमदके विलासका सुख, जगत्का सार, जन्मका फल, कामदेवका अभिप्राय-विशिष्ट स्थान, स्वतः मेरा हृदय, रागवृत्तिकी चरम परिणति और श्रृङ्गारका रहस्य हो रहा है—

सर्वस्वं नवयौवनस्य भवनं भोगस्य भाग्यं दृशां
सौभाग्यं मदविभ्रमस्य जगतः सारं फलं जन्मनः ।
साकूतं कुसुमायुधस्य हृदयं रामस्य तत्त्वं रतेः
श्रृङ्गारस्य रहस्यमुत्पलदृशस्तत् किंचिदालोकितम् ॥

इसी प्रकार रामचरितमानस-(१ । २२९ । ३)में भी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जनकतनयाका रूप वर्णन करते-करते विमुग्ध हो जाते हैं; परंतु यहाँ मर्यादा एवं शालीनताका ध्यान अधिक है—

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥

यही नहीं, वह अलौकिक सुषमा इतनी मोहक एवं आकर्षक है कि उसे देखकर राघवेन्द्रको भी स्वीकार करना पड़ा कि—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
(मानस १ । २३० । २)

गुप्तजीने भी साकेत-(चतुर्थ सर्ग-)में सीताकी रूप-माधुरीको अनुपम, किंतु आकर्षक बताते हुए कहा है कि—

परिधि बनी थी विधु-मुखकी, सीमा थी सुषमा-सुख की।
भाव-सुरभिका सदन अहा, अमल-कमल-सा वदन अहा।
अधर छबीले छदन अहा, कुन्दकली-से रदन अहा।
साँप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें।
और कपोलोंकी झलकें, उठती थीं छवि की छलकें।
गोल-गोल गोरी बाहें, दो आँखों की दो राहें।

सीताके अङ्ग अत्यन्त कोमल एवं सुकुमार हैं। वाल्मीकि रामायणमें विलाप करते हुए दशरथ कैकेयीसे कहते हैं—

'कैकेयि! सीता कुश-चीर पहनकर वन जाने योग्य नहीं है; वह सुकुमारी है, बालिका है तथा सदा सुखोंमें ही पली है (वा० रा० २ । ३८ । ३-४)।

हनुमन्नाटक-(३ । १३)में, कण्टकाकीर्ण मार्गपर चलनेको उद्यत कोमलाङ्गी सीताके इसी सौकुमार्यको देखकर पुरुषोत्तम श्रीराम संदेह प्रकट करते हुए कहते हैं कि तुम तो पहलेसे ही कृशोदरी हो, उसपर स्तनभारसे झुकी जा रही हो। यहाँतक कि क्रीड़ाके लिये घरमें भी नहीं चल-फिर सकती थीं और झूला झूलनेके समय भी थक जाती थीं, फिर झरने, झाड़ी, पर्वतीय नदियों एवं भयानक जन्तुओंसे युक्त वन-प्रदेशमें तुम कैसे चल सकोगी?'

रामचरितमानसमें कौसल्या श्रीरामसे सीताकी इसी सुकुमारताका चित्रण करती हुई उसे वन न ले जानेको आग्रह करती हैं—

तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सास ससुर परिजनहि पिआरी॥
× × ×
मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।
रूपरासि गुन सील सुहाई॥
नैन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।
राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली।
सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा।
जानि न जाइ काह परिनामा॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनि मूरि जिमि जोगवत रहऊँ।
दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥
(मानस २ । ५८ । ४, २ । ५९ । १–३)

शील और सौन्दर्यका युगवत् चित्रण कितना सजीव है। कौसल्याका स्नेह भी वैसा ही सशक्त है। 'दीप बाति नहिं टारन कहउँ।' में कैसी व्यञ्जना है!

और, जब बहुत आग्रह करनेपर भी सीता नहीं मानतीं तथा प्रियतम श्रीरामके साथ वन-पथपर निकल ही पड़ती हैं तब उनके सौकुमार्यसे द्रवित हो हनुमन्नाटक-कार (३ । १२ में) अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

'सिरस-सुमनके समान कोमलाङ्गी सीताने पुरीकी निकटवर्ती भूमिमें शीघ्रतासे तीन-चार पग ही

चलकर इस प्रकार बार-बार कहकर कि 'प्राणनाथ! अब और कितना चलना है ? श्रीरामके आँसुओंका प्रथम अवतरण करा दिया—श्रीरामके नेत्र सजल हो उठे।

हनुमन्नाटकके इन्हीं भावोंसे अनुप्रेरित गोस्वामी तुलसीदासकी कवितावली-(२ । ११) में अत्यन्त हृदयग्राही चित्र इस प्रकार प्रस्तुत है—

पुरतें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मगमें डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जलकी, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

सौकुमार्यकी पराकाष्ठा है! सीताका सौकुमार्य एवं रूप-सौन्दर्य अद्वितीय और अप्रतिम है। सारांशतः 'मानस' की एक अर्द्धालीमें कहा जा सकता है कि—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥

वस्तुतः तुलसीकी मर्यादादृष्टिमें जगज्जननीके सौन्दर्य-की शोभा अत्यधिक है, अनुपम है, अतुलित है।

सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छबि भारी॥

गोपाष्टमीके उपलक्ष्यमें—

भारतीय संस्कृतिमें गो-महिमा

'गवां हि पालनं राज्ञा कर्तव्यं भृगुनन्दन'

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी)

समस्त भारतीय धर्म-दर्शन तथा मुख्यतः हिंदू-धर्ममें गायका अत्यधिक महत्त्व माना गया है। गो-दान सर्वोत्तम दान है। शास्त्रोंमें उल्लेख है कि गो-सेवासे धन, सन्तान और दीर्घायुष्य प्राप्त होते हैं। गायके सेवकों-को इन सबका प्रत्यक्ष फल दिखलायी पड़ता है। रघुवंश महाकाव्यमें राजा दिलीप गो-सेवाद्वारा पुत्र प्राप्त करते हैं। जीवमात्रके जन्म-कालमें उसकी रक्षाके लिये दूध ही आहार है। बिना दूध कोई जी नहीं सकता। माताका दूध जिस प्रकार परमोपयोगी है, उसी प्रकार गायका दूध भी उपयोगी है और उसे सभी पीते हैं। माता-पिता जिस प्रकार जन्मदाता होनेसे पूज्य हैं, उसी प्रकार पुष्टि करनेके कारण गाय सर्वथा पूज्य है। गायके दूध, घृत, दही, गोमूत्र, गोबर आदि सभी पदार्थ मानवमात्रके लिये परमोपयोगी हैं। यज्ञोंमें गो-घृतद्वारा ही आहुतियाँ प्राप्तकर देवगण तृप्तिका अनुभव करते हैं। गाय शत्रु-मित्र दोनोंको समान भावसे दूध प्रदान करती है। वह इतनी परोपकारिणी है कि मरनेपर अपने चर्मके द्वारा भी उपकार करती है। इसपर गाय अन्न नहीं, भूसा खाती है—जबकि अन्य पशु—ऊँट, हाथी आदि अन्न भी खाते हैं। गाय अपने मुँहमें तृण रखकर यह शिक्षा देती है कि शूरोंका काम है कि वे ऐसे किसी भी जीवको न मारें जो मुखमें तृण दबा लेते हों।

गाय कृषिके लिये सर्वोत्तम साधन है। वह बछड़ा प्रदान करती है। उसकी सहायतासे मानव अन्न उत्पन्न कर अपना उदर-पोषण करते हैं। कृषिके लिये गोबर, गोमूत्र आदि उपयोगी खाद प्रदान कर उसे अत्यधिक लाभ पहुँचाती है। गायके विषयमें किसीने कैसा सटीक कहा है कि ये तृण खाती हैं, अरण्यमें रहती हैं तथा जल पीकर अमृत-सदृश दूध देती हैं—

तृणानि खादन्ति वसन्त्यरण्ये
पिबन्ति तोयान्यपरिग्रहाणि।
दुहन्ति वाह्यन्ति पुनन्ति पापं
गवां रसैर्जीवति जीवलोकः॥

जब गाय तुष्ट होती है तो वह पाप दूर कर देती है। गोदानसे स्वर्ग प्राप्त होता है, रक्षा करनेसे धन बढ़ता है। अतः गायके समान कोई धन नहीं है—

तुष्टास्तु गावः शमयन्ति पापं
दत्तास्तु गावः त्रिदिवं नयन्ति।
संरक्षिताश्चोपनयन्ति वित्तं
गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किंचित्॥

तथा सूखे तृण चबाकर, वनमें पानी पीकर अमृत-सम दूध देती है। सबको पवित्रता प्रदान करती है, अतः गायके समान कोई धन नहीं है—

तृणानि शुष्कानि वने चरित्वा
पीत्वापि तोयान्यमृतं स्रवन्ति।
यद् गोमयाद्याश्च पुनन्ति लोकान्
गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किंचित्॥

हारीतस्मृतिमें लिखा है कि 'जो अधिक दूधवाली गायका दान करता है वह अपनी आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंको और अपनेको तार देता है'—

बहुक्षीराश्च यो गावो ब्राह्मणायोपपादयेत्।
उत्तारयेत् स ह्यात्मानं सप्त सप्त कुलानि च॥

जिस प्रकार अलंकृत गायके दानसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार वृषभ-द्वयके दानसे भी स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। संवर्तस्मृतिका वचन है—

अनड्वाहौ तु यो दद्यात् द्विजे क्षीरेण संयुतौ।
अलंकृतौ तथा शक्त्या धूर्वहौ शुभलक्षणौ॥

पाराशरस्मृति (अ० ११), आङ्गिरसस्मृति (१-२), आपस्तम्बस्मृति (श्लोक १५-१६, १९-२०) प्रभृतिमें पञ्चगव्यद्वारा शुद्धिके विधान किये गये हैं।

विष्णुधर्मोत्तरका कथन है कि अपनी आत्मासे भी अधिक गायकी रक्षाका ध्यान रखना चाहिये—

गवां हि पालनं राज्ञा कर्तव्यं भृगुनन्दन।
गावः पवित्रा माङ्गल्या गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥

गावो यज्ञं वितन्वन्ति गावो विश्वस्य मातरः।
शकृन्मूत्रं परं तासामलक्ष्मी नाशनं परम्॥
तद्धि रक्षेत् प्रयत्नेन तत्र लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता।

गायकी पद-धूलि परम पवित्र है। यह अलक्ष्मीका नाश करती है और समस्त विघ्न-बाधाओंको दूर करती है। गायकी श्वास-वायुसे घर पवित्र होता है; गायके स्पर्शसे पाप दूर होते हैं। तभी तो सर्वाराध्य भगवान् श्रीकृष्णने अपने द्वारा यदि किसी कार्यको महत्त्व दिया तो वह था—गायोंकी रक्षा तथा गो-सेवा। तभी तो उनका नाम 'गोपाल' प्रसिद्ध हुआ।

श्रीकृष्णकी गो-सेवा—

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके १५वें अध्यायमें श्रीकृष्णके गोचारणकी लीला-कथा वर्णित है। वहाँ शुकदेवजीने बतलाया है कि जब श्रीकृष्णकी कुमारावस्था व्यतीत हुई तथा पौगण्डावस्थाका आरम्भ हुआ, तब वे दोनों (बलराम और कृष्ण) गाय चराते हुए वृन्दावनको महिमान्वित करने लगे—

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥

श्रीधर स्वामीने दशमस्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायके एक श्लोकमें इस प्रकार कहा है—

ततः पंचदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम्।
कालियक्ष्वेडतो गोपरक्षणं च निरूप्यते॥
(भावार्थ-दीपिका, मङ्गलाचरण १०। १५। १)

गोचारण-तिथि—भगवान् श्रीकृष्णने गोचारणका शुभारम्भ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवारके शुभ दिनको किया था। पद्मपुराके कार्तिक माहात्यमें आया है कि—

शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः।
तद्दिनाद् वासुदेवोऽभूद् गोपः पूर्वं तु वत्सपः॥

यह महोत्सव तीन दिनोंतक व्रजमें मनाया गया था। व्रजराज नन्दने अपने कुलकी मर्यादाके अनुसार ज्योतिषीको

बुलाया तथा उनसे मुहूर्त निकलवाया। उन्होंने कार्तिक शुक्लाअष्टमी, श्रवण नक्षत्र, बुधवारको गोचारणका दुर्लभ मुहूर्त बतलाया, जैसा कि गोपालचम्पू १२। ३२ का वचन है—

बुधश्रवणविशिष्टायां बहुल बाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्टमित्यादिष्टम् ॥

चम्पूकारका कथन है कि यदि एक-एक वक्ताके दस हजार मुख हो जायँ और उनकी आयु भी दस हजार वर्षोंकी बनी रहे, तो भी उस गोचारण-दिवसके विषयमें कुछ कहनेकी इच्छा बनी ही रह सकती है।

गोचारणके प्रथम दिन विविध प्रकारके वाद्य बजने लगे, पुरोहितोंको आगे किया गया और धेनुओंको पासमें लाया गया। पाद्य-अर्घ्य आदिसे गायोंकी पूजा की गयी। उन्हें मीठे-मीठे ग्रास दिये गये। शास्त्रका वचन है कि इससे महान् पुण्य प्राप्त होता है **'गवां ग्रासप्रदानेन पुण्यं स महदश्नुते।'** गायोंको तृप्त किया गया, गायोंकी प्रदक्षिणा की गयी तथा पुरोहितोंको दान दिया गया। पिता श्रीव्रजराज नन्दने श्यामसुन्दरके हाथमें लकुटी दी। माता व्रजरानीने उनके मस्तकपर तिलक-रचना की। ब्राह्मणोंने आशीर्वाद दिया और मङ्गलमयी गीत-वाद्यकी ध्वनिके बीच सुन्दर गोप-वेषमें राम-कृष्ण गौएँ चराने निकले। 'गोपालचम्पू' (१२।३५) के शब्दोंमें देखिये—

गोपालोचितनव्यवेषवलनैरक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनादलभ्यरचनैर्वर्ज्याईनीराजनैः।
सगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामेण धेनूरनु ॥

गोचारणके लिये प्रस्थान करते समय माता यशोदाने बलरामसे कहा कि 'पुत्र! तुम इस कृष्णके आगे रहना, बेटा सुबल! तुम इसकी रक्षा पीछेसे करना। श्रीदामा और सुदामा! तुम दोनों श्रीकृष्णकी भुजाओंके पास स्थित रहना तथा अन्य बालक इसकी अन्य दिशाओंमें रहें।' इस प्रकार माँ यशोदाने श्रीकृष्णको एवं प्रत्येक गोपालको अपने स्नेहसहित नयन-नीरसे अभिषिक्त कर उल्लसित मनसे सबको विदा किया।

श्रीकृष्णने 'जिहि', 'जिहि' शब्द किया, जिसे सुनते ही गाय सम्मुख उपस्थित हो गयी और तबतक आगे न बढ़ी जबतक श्यामसुन्दर और बलराम गायोंके आगे-आगे न चलने लगे। गायें आनन्दपूर्वक उनका अनुसरण करती पीछे-पीछे चलने लगीं। श्रीकृष्णने भी अपने वृद्धों तथा पूज्यजनोंको सादर विदा कर दिया और वे सभी सखाओंके साथ-साथ हँसते-गाते मनमोहनी मुरली बजाते गोवर्द्धन पर्वतकी उपत्यकाकी ओर चल दिये। 'हियो' संकेतद्वारा गायें कभी एकत्र हो जातीं तो कभी अलग हो जाती थीं। श्रीकृष्णने गायोंका ताडन कभी नहीं किया।

शास्त्रोंमें वर्णित गो-पूजा तथा क्रीडा-विधानका श्रीकृष्णने प्रत्यक्षतः पालन किया। जब गायोंके छत्र-चमर नहीं, पादुका भी नहीं तो फिर श्रीकृष्ण ही भला इन अलंकरणोंको धारण कैसे कर सकते थे? माँ यशोदाने जब-जब इन सब (उपकरणों)के लिये आग्रह किया तो श्रीकृष्णने विनीत उत्तर दिया—'माँ! जब मेरी प्यारी गायें ही बिना छत्र और बिना पदत्राणोंके जा रही हैं तो फिर भला मैं ही इन्हें कैसे धारण करूँ?' यह था नन्हे गोपाल श्रीकृष्णका गायोंके प्रति अगाध श्रद्धा और पूज्यभाव।

गावः प्रतिष्ठा भूतानाम्—(गाय समस्त जीवोंकी प्रतिष्ठा है।) ऋषियोंने हवन-कार्यके लिये गायोंकी उपयोगिता वर्णित की है। गायें जहाँ जलपान करतीं हैं, अथवा जिससे पार करती हैं, वहाँ सरस्वती निवास करती हैं—

यत्र तीर्थे सदा गावः पिबन्ति तृषिता जलम्।
उत्तरन्त्यथवायेनास्थिता तत्र सरस्वती ॥

भगवान् श्रीकृष्ण गायोंको प्रतिदिन प्रणाम करते थे; क्योंकि समस्त देवताओं और तीर्थोंका वास गायोंमें बताया गया है। सींगके मूलमें ब्रह्मा, सींगके अग्र भागमें समस्त तीर्थ, सिरके मध्यमें महादेव, ललाटके अग्र भागमें देवी, नासिकामें कार्तिकेय, कंबलमें अश्वतर, वाम कर्णमें अश्विनीकुमार, नेत्रोंमें सूर्य-चन्द्र, दाँतोंमें वायुदेव, जिह्वामें वरुणदेव, हुंकारमें सरस्वती, कपोलद्वयमें यम-यक्ष, ओष्ठद्वयमें दोनों संध्यादेवियाँ, ग्रीवामें इन्द्रदेव, कक्षमें राक्षस, ऊरुमें साध्यगण, जंघामें चार पैरवाला धर्म, खुरोंके मध्यमें गन्धर्व, खुरके अग्र भागमें पन्नग (सर्प), पीठमें एकादश रुद्र, सन्धियोंमें वायुगण, ठोडीमें पितर, पूँछमें चन्द्रमा, पिण्डमें नक्षत्र, गोमूत्रमें गङ्गा, गोमयमें लक्ष्मी, दूधमें सरस्वती, दधिमें नर्मदा, घीमें अग्निदेव, रोममें २८ कोटि देव निवास करते हैं। ब्रह्मपुराणमें गो-परिचर्यामें इसका उल्लेख किया गया है—

वन्दनीयाश्च पूज्याश्च गावः सेव्यास्तु नित्यशः।
गवां गोष्ठे स्थितानां च यः करोति प्रदक्षिणाम्।
प्रदक्षिणीकृतं तेन जगत् सदसदात्मकम्॥

गायें परम पवित्र हैं जो इनकी शुश्रूषा करता है वह सब पापोंसे छूट जाता है। गायें वन्दनीय, पूज्य और सदैव सेवा करने योग्य हैं। वाराहपुराणका वचन है—

गावः पवित्रा माङ्गल्या देवानामपि देवताः।
यस्ताः शुश्रूषते भक्त्या स पापेभ्यः प्रमुच्यते॥

गवां हि तीर्थे च सतीह गङ्गा
पुष्टिस्तथा सा रजसि प्रवृद्धा।
लक्ष्मीः कराग्रे प्रणतौ च धर्म-
स्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात्॥

भगवान् श्रीकृष्णने तो स्पष्ट कहा है कि—

गावो मे चाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे पार्श्वयोः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

गायें मेरे आगे हों, गायें मेरे पीछे हों। गायें मेरी बगलोंमें हों, मैं गायोंके मध्य ही रहता हूँ।

यह साधारण बात नहीं, पर विचारणीय तथ्य है कि अजन्मा परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें केवल गायोंको ही प्राधान्य क्यों दिया? वस्तुतः उन्होंने गायोंके शुभाशीष्-प्रदानसे समस्त असुरोंका संहार किया था। बड़े-बड़े असुर गो-सेवाद्वारा ही धराशायी किये गये या हो सके। धेनुकासुर, केशी, अरिष्टासुर आदिका वध तो गोचारण-लीलामें ही किया गया था। उन्होंने गोचारणमें ही वंशीका अवलम्बन लेकर अपनी अभिन्न आह्लादिनी शक्ति—श्रीराधा तथा अन्य व्रज-गोपिकाओंके साथ माधुर्य आनन्दकी लीलाएँ की थीं।

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्' इत्यादि वैदिक ऋचाओंके अनुसार श्रीकृष्णने नयी गोसेवा करके लोकके समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण सब कुछ सहन कर सकते थे, परंतु अपनी गायोंके कष्टको वे कभी सहन न कर सकते थे। भले ही उन्हें अपने प्राणोंकी बाजी लगानी पड़ी थी, परंतु उन्होंने कालिय-नागको भगाकर ही विश्राम किया था। इन्द्रका मान-मर्दन कर गोवर्द्धनकी प्रतिष्ठा की थी। तभीसे गोपालन भारतीय संस्कृतिका केन्द्रबिन्दु बना। धन्य हैं श्रीकृष्ण और धन्य है उनकी आदर्श गोसेवा, जिसने भूलोककी एक संस्कृतिका उद्धार किया है। हमें इस आदर्शसे नित्यप्रति प्रेरणा तथा सादर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। आइये, हम धेनुरूपधारिणी उस देवीसे अपने पाप दूर करनेके लिये प्रार्थना करें—

या लक्ष्मीर्लोकपालानां या च देवेषु संस्थिता।
धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु॥

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा दिये गये एक प्रवचनका सारांश)

ध्यानके लिये खास बात अपने अनुभवपर ध्यान देनेकी है। एक तो ध्यान हम करते हैं और एक ध्यान होता है। जो होता है, वह असली है और जो ध्यान करते हैं वह नकली है। ध्यान होता किसका है?—संसारका। ध्यान करते हैं किसका?—भगवान्‌का। ध्यानके होनेमें और करनेमें क्या कारण है? करनेमें तो हमारा उद्देश्य है कि ध्यान करना चाहिये जिससे भगवान्‌के प्रति उत्तरोत्तर प्रेम बढ़े और होनेमें संसारका राग, आसक्ति, प्रियताका त्याग रहता है। बिना इसके वास्तविक ध्यान होता ही नहीं।

भगवान्‌का ध्यान कैसे हो? भगवान्‌में यदि प्रियता हो जाय, मन खिंच जाय तो भगवान्‌का ध्यान स्वाभाविक होने लगेगा। निरन्तर रहनेवाले भगवान्‌का स्वरूप क्या है? श्रीमद्भगवद्गीता (९। ४)में भगवान्‌ने कहा है कि—**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**—'मेरे निराकार-स्वरूपमें यह समस्त संसार व्याप्त है।' भगवान् निराकार-रूपसे सब जगह हैं तथा वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ—ऐसा माने। वे ही भगवान् जब अत्यधिक कृपा करते हैं तो अवतार लेते हैं, प्रकट हो जाते हैं। उनकी कृपाके अतिरिक्त उनके ध्यान तथा प्रत्यक्ष दर्शनके लिये उत्कट प्रेमकी आवश्यकता होती है। तब ही वे हमारे इच्छित, इष्ट-रूपमें—कृष्ण, राम अथवा शिवरूपमें प्रकट होकर दर्शन देते हैं।

······**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**······भगवान् कृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं। 'कृष्ण'का अर्थ क्या हुआ?—खींचनेवाला। इनका स्वरूप इतना आकर्षक है कि कहीं उसकी यदि थोड़ी-सी भी झलक पड़ जाय तो फिर उनके बिना रहा ही नहीं जा सकता। स्वतः मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं हृदय खिंच जायगा। फिर तो वह अपने-आपको अपने हाथमें नहीं रख सकेगा। ऐसे हैं—भगवान् श्रीकृष्ण।

भगवान् कृष्ण अत्यन्त सुन्दर हैं। उनके समान कोई सुन्दर है ही नहीं। वे सबसे प्यारे (प्रियतम) हैं। शरीर भी इतना प्यारा नहीं है, जितने भगवान् प्यारे हैं। वे सबके हृदयमें हैं, प्राणिमात्रमें हैं, अतः आत्यन्तिक प्रिय हैं।

भगवान् कृष्ण जब वृन्दावनमें वंशी बजाते हैं तो स्थावर-जङ्गम सब-के-सब प्राणी उस ओर खिंच जाते हैं। निरन्तर प्रवाहित होनेवाली यमुनाजी भी स्थिर हो जाती हैं। सदा स्थिर रहनेवाले वृक्ष आनन्दमग्न हो नृत्य करने लगते हैं! जैसे भगवान्‌की वंशीकी ध्वनि आकर्षक है, वैसे ही भगवान्‌का स्वरूप भी अत्यन्त आकर्षक है। इतना अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य है कि उस सुन्दरताकी कोई कल्पना ही मनुष्य कभी नहीं कर सकता। उतनी कल्पना करनेके बाद भी, उससे भी अनन्त गुना भगवान्‌का सुन्दर स्वरूप है। अतः मन-इन्द्रियोंका उनकी तरफ खिंच जाना स्वाभाविक ही है। पशु, पक्षी, वृक्ष, मनुष्य आदि सब-के-सब खिंच जाते हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण हैं और वे सब स्थानोंमें हैं। जैसे वे निराकार-रूपसे व्यापक हैं, वैसे ही वे साकार-रूपमें भी व्यापक हैं—जहाँ जब चाहें वहीं प्रकट हो जायँ। एक साथमें हजारों-लाखों रूपोंमें प्रकट हो जायँ। वे जितने भी रूपोंमें प्रकट होते हैं, वे सभी रूप पूर्ण होते हैं। वे ऐसे अनन्त सौन्दर्य-निधि हैं, ऐसी अद्भुत दिव्य लीलाएँ करते हैं कि उन्हें देखकर जीवोंको अपना होश ही नहीं रहता। ऐसे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान इस प्रकार करें—

भगवान् श्रीकृष्ण बाँके (त्रिभङ्गी) रूपसे खड़े हैं। इसीलिये वे तीन जगहोंसे टेढ़े हैं। एक चरण, जो

बाँया चरण है, वह सीधा है और दूसरा दायाँ चरण बायें चरणके आगे रखकरके अँगूठा टेढ़ा कर खड़े हैं। इस प्रकार उनका श्रीचरण टेढ़ा, घुटना भी टेढ़ा, कमरसे भी वे टेढ़े और ऊपर ग्रीवासे भी टेढ़े खड़े हुए तथा वंशी बजाते हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं।

अब उनके श्रीचरणोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो वे बड़े ही सुन्दर हैं। लाल-कमलके समान लाल-लाल तलवें हैं। अँगुलियाँ और अँगूठे नीचेसे लाल हैं, ऊपरसे श्याम हैं तथा उनपर उज्ज्वल नख हैं। लालिमायुक्त नखज्योति इतनी विचित्र है कि उससे मधुर-उज्ज्वल प्रकाश हो रहा है। नखोंसे प्रकाशकी किरणें छिटक रही हैं। नखोंके ऊपरका भाग बड़ा ही सुन्दर श्यामवर्णका है, जैसे मरकतमणिका कोई ढेर हो। ऐसे श्यामस्वरूप होते हुए भी उन नखोंको उज्ज्वलतम कहा गया है। तो फिर वे नख-चन्द्र उज्ज्वल और श्याम दोनों कैसे हुए? श्रीअङ्गका झलकता श्यामवर्ण और नख-चन्द्रिकाकी चमक मिलनेसे आपके चारों ओर एक दिव्य मधुर प्रकाश फैला हुआ है। नख-चन्द्रोंमें जब श्याम रंगकी आभा पड़ती है तो श्याम रंग होते हुए भी वे दीप्तिमान् हैं। बड़ा ही देदीप्यमान प्रकाश है श्रीचरणोंका, बड़े ही शोभा पा रहे हैं वे—ऐसे हैं श्रीकृष्णके सुन्दर चरण। चरणोंमें आप सुन्दर नूपुर धारण किये हुए हैं, स्वर्णिम रत्न-जटित नूपुरके अतिरिक्त चरणोंमें अन्य प्रकारके आभूषण भी धारण किये हुए हैं जो बड़े सुन्दर तथा बहुमूल्य रत्नोंसे जड़े हुए हैं। उनपर पीताम्बरकी किनारी फब रही है क्या ही छवि है!

पीताम्बर कुछ ऊँचा-ऊँचा-सा पहने हुए हैं, जैसे ग्रामीण लोगोंके लड़के उँची धोती पहनते हैं। पीताम्बरकी किनारी बड़ी ही सुन्दर है। किनारीपर 'कृष्ण-कृष्ण' लिखा हुआ है। किसी एक भक्तका उद्गार है कि जब पूरे श्रीअङ्गमें उनके पीताम्बरका आभास पड़ता है तो मालूम होता है कि मानो श्याम बादलोंमें बिजली चमकती हो। ऐसे श्रीश्यामसुन्दरका बड़ा ही सुन्दर, प्रकाशमय, देदीप्यमान पीताम्बर है। पीताम्बरके पहननेसे सलवटें पड़ी हुई हैं, घुटनोंके बीचमें पीताम्बरको चुनकर सुन्दर पटली लगी है। वह विशेषरूपसे चमक रही है। कमरमें सोनेकी करधनी है, उसमें बहुत ही सुन्दर रत्नजटित घुँघरू लटक रहे हैं। पीताम्बरकी तरफ देखें तो वहाँ मन खिंचा रह जाता है और जब कटिकी करधनीकी तरफ दृष्टि लगाते हैं तब उसी स्थानपर मन अटककर रह जाता है; क्या ही अनुपम शोभा है श्रीकृष्णके इस स्वरूपकी!

उदरमें तीन रेखाएँ हैं और बड़ी गम्भीर नाभि है। जैसे नदीमें भँवर पड़ा हो ऐसी सुन्दर गहराईयुक्त वह नाभि है। नाभिके ऊपर सुन्दर वक्षःस्थल है। वक्षःस्थलपर 'श्रीवत्स'का चिह्न है। कण्ठसे वक्षःस्थलपर झूलती हुई रत्नों, मोतियों, मूँगों, चिरमिटयोंकी मालाएँ हैं तथा पुष्प-हार और वनमाला सुशोभित हैं। उन मुक्ता-मालाओं तथा रत्नाभरणोंका प्रकाश तो है ही, इसके साथ ही भगवान् श्यामसुन्दरके अप्राकृत (दिव्य) श्याम शरीरसे भी दिव्य प्रकाशकी किरणें छिटक रही हैं। दाहिनी तरफ कुण्डली है। उसकी शोभा कुछ और ही है।

भगवान्‌का दायाँ हाथ नानारङ्गकी पुष्प-मालाओंसे ऊपर होकर मुखारविन्दके पास वंशी पकड़े हुए है। वंशीके स्वर-छिद्रोंपर अँगुलियाँ रखी हुई हैं। भगवान् वंशी बजाते हुए स्वयं आनन्दमग्न हो रहे हैं। वे ग्रीवा (गरदन) टेढ़ी करके खड़े हैं। वे वंशी बजाते हुए मन्द-मधुर-हास्य बिखेर रहे हैं। उनके हँसनेसे चारों तरफ किरणें बिखर रही हैं। लाल-लाल अधरोष्ठ बहुत ही कोमल और सुन्दर हैं। भगवान्‌के सुन्दर कपोलोंके बीचमें लालिमा है। श्याम, लाल और सफेद—इन तीनों रङ्गोंका सुन्दर समिश्रण है। ऐसे

श्रीकृष्णका मुखारविन्द प्रफुल्ल कमलके समान अत्यन्त सुन्दर और प्रकाशमान है। उनकी नासिका बहुत ही सुन्दर है। नासिकामें मोती है, जो अधरोष्ठ-पुटोंपर लटक रहा है—वह भी अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है। घुँघराले काले केश हैं। ललाटके पास जैसे भँवरोंका समूह हो—ऐसे घुँघराले केश-जाल मनको लुभा रहे हैं। कान श्यामवर्णके हैं, जिनमें रत्नजटित, मकराकृतिवाले सुन्दर कुण्डल लटक रहे हैं। भगवान् जब ग्रीवा मोड़कर इधर-उधर देखते हैं तो कुण्डलोंकी आभा कपोलोंपर ऐसी चमकती है मानो बादलोंमें बिजलीकी चमक हो।

सुन्दर ललाटपर कस्तूरीका भव्य तिलक है। सिरपर मोर-मुकुट धारण किये हुए हैं। मुकुटवत् मयूरका पिच्छ तो बहुत ही सुन्दर है। नेत्र बड़े चञ्चल और आकर्षक हैं।

भगवान्के चारों ओर गौएँ खड़ी हैं। गोपियाँ हैं, ग्वाल-बाल हैं—वे सब-के-सब झुण्ड-के-झुण्ड खड़े होकर एकटक भगवान्की तरफ ही देख रहे हैं। भगवान्को देखते-देखते उनकी पलकें बन्द हो गयी हैं। वे सब भगवान्को देख-देखकर हँस रहे हैं, बड़े आनन्दित हो रहे हैं। भगवान् भी उन भक्तजनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं।

इस प्रकार भगवान्को चरणोंसे लेकर शिख-(मयूर-पिच्छ) तक अपलक, निरन्तर निहारते रहनेपर भी उनके भक्तोंको, कभी अपने नेत्रोंकी पलकोंका गिरना भी सहन नहीं है। उनके प्रेमी भक्तोंकी तो मात्र यही अभिलाषा रहती है कि वे नित्य-निरन्तर सदा-सर्वदा उनका दर्शन करते ही रहें।—ऐसे ही एक किसी प्रेमी भक्तकविकी भावमयी उक्ति है—

'साँवरे की ओर तो देखिबो ही कीजिये।'

विश्व-विमोहन भगवान् श्रीश्यामसुन्दरका ऐसा ही मनोमोहक दिव्यस्वरूप है, जिसका नित्य-प्रति ध्यान करना चाहिये। ऐसा ध्यान यदि अपने आप होने लग जाय तो समझना चाहिये कि हमारा वह ध्यान असली है।

कविका ध्यान

मंजुल मुकुट के निकट घरी एक रह्यौ,
　　उत ते उचट लौनी लटन में लटकि गौ।
कहैं 'बलभद्र' लौनी लट तैं उलटि फिरि,
　　ग्रीवा कलकण्ठ की निकाई में सिमिटि गौ।
भूल्यो-भूल्यो फिरयो, फेरि ग्रीवा कलकण्ठ हूँ ते,
　　नाभी-सर सीढ़िन पै पहुँचत रपटि गौ।
अटिकौ न मेरो मन डटि गौ तहाँ ही आली,
　　कटि के निकट पीत पट में लपटि गौ॥

—श्रीबलभद्रजी

भारतीय जीवनमें गृहस्थाश्रम

(लेखक—श्रीसेठबहादुरजी मिश्र, एम्० ए०, एल्० टी०)

चिरन्तन-सत्य-स्वरूपा, नित्य-धर्मा भारतीय संस्कृतिमें समन्वयवाद उसका मेरुदण्ड है। 'विभिन्नतामें एकता' उसका सार्वभौम एवं शाश्वत उद्घोष है। जीवनकी चरम उपलब्धिके लिये यहाँके मनीषियोंने हमेशा जगत्की द्वन्द्वात्मक स्थितिसे समझौता करने अथवा समन्वय स्थापन करनेका संदेश दिया है। उसका अभिप्राय है—किसी एक पक्षका अधिक महत्त्व न होना, अथ च अपर पक्षके त्यागका अभाव।

इसी समन्वयका आधार सृष्टिके आरम्भसे ही हमारे समाजमें समाहित है। सामाजिक समन्वयके लिये वर्ण-व्यवस्थाका निर्धारण किया गया जिसका उद्देश्य था सामाजिक व्यवस्थाका व्यवस्थित परिचालन, जिसमें उच्चावच तथा वर्ग-संघर्षका विषम भाव सर्वथा त्याज्य था। उसी प्रकार जीवन-यात्रामें समन्वित स्थिति-हेतु आश्रम-धर्मकी व्यवस्था थी; यथा—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्ताचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥

भारतीय संस्कृतिमें मानव-जीवनके चार साध्य माने गये थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति चारों आश्रमोंमें करणीय-कार्योंद्वारा हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसमें लौकिक सुख तथा अलौकिक जगत्का कल्याण दोनों सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकारसे जीवन-सम्बन्धी कोई कार्य या स्थिति अपेक्षित नहीं रहती और प्राणी अन्ततोगत्वा अपनी लौकिक यात्राद्वारा अलौकिकताकी कल्याणमयी गतिमें अपनेको विलीन कर सकता है। जीवन-यात्रा समन्वित एवं संतुलित रूपमें परिचालित होती है।

आश्रम-व्यवस्थामें चारों आश्रमोंके अलग-अलग कर्म हैं। पर आश्रमोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सर्वजन-ग्राह्य गृहस्थाश्रमके कुछ विशिष्ट कर्म हैं जिनपर यहाँ विचार किया जा रहा है।

आयुके प्रथम भाग अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रममें त्याग-तपस्याद्वारा शरीर, वेद-धर्म, ज्ञान-विज्ञान आदिसे बुद्धि एवं आत्माका परिष्कार करके हर व्यक्तिको गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। गृहस्थ-आश्रमके लिये सर्वप्रथम शुद्ध कुल-वृत्तवाली कन्यासे विवाह करे। विवाह कर लेनेके पश्चात् गृहस्थधर्मका पालन करता हुआ संसारमें निवास करे।

गृहस्थके करणीय कर्म

गृहस्थ-आश्रममें जीवन-यापन करनेमें पाँच हिंसाके स्थान होते हैं। उनका परिहार पाँच यज्ञोंद्वारा होता है। अतः गृहस्थको इन कृत्योंको बड़ी सावधानी एवं तत्परताके साथ करना चाहिये। मनुस्मृति अ० ३में कहा गया है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्॥
(श्लोक६८)

अर्थात्—गृहस्थके पाँच हिंसा-स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली-मूसल, जलका घट। इन्हीं दोषोंके परिहारके लिये आगे कहा है—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(६९-७०)

अर्थात्—उन चूल्हा आदि वधके स्थानोंसे उत्पन्न पापके नाशके लिये क्रमसे पाँच यज्ञ मनु आदि आचार्योंने गृहस्थोंके करनेको कहे हैं। वे पाँच यज्ञ हैं—१—वेदोंका पढ़ना और पढ़ाना या ब्रह्मयज्ञ, २—तर्पण या अन्न आदिसे अथवा जलसे पितरोंको तृप्त

करना या पितृयज्ञ, ३—आगमें होम करना या दैव-यज्ञ, ४—भूतोंको बलि देना या भूतयज्ञ और ५—अभ्यागतका सत्कार करना या नर-यज्ञ। ये पाँच महायज्ञ हैं।

जिस प्रकार हृदयस्थित प्राणनाम पवनके कारण सब जीव जीते हैं, वैसे ही गृहस्थके सहारे सब आश्रम निर्वाह करते हैं। गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमवालोंके लिये प्राणके समान है। इसीलिये इसे जेठा आश्रम कहते हैं।

पञ्च-यज्ञ-वर्णन

१–ब्रह्मयज्ञ—वेद-पाठके स्वाध्यायद्वारा ऋषि-गण तृप्त होते हैं। वेद आदि सत्-साहित्यके अध्ययनद्वारा ज्ञानार्जन करके दूसरोंको प्रदान करना ही ब्रह्मयज्ञ है। अतः इस यज्ञके लिये प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन अवश्यमेव अध्ययन करना चाहिये। और जो विद्वान् हैं, उन्हें अपने स्वाध्यायके अतिरिक्त बिना पारिश्रमिक लिये योग्य पात्रोंको पढ़ाना भी चाहिये।

२–दैवयज्ञ—प्रतिदिन होम या यज्ञ करना दैव-यज्ञ कहलाता है। इसे प्रतिदिन करनेसे देव प्रसन्न होते हैं। आजकलके व्यस्त जीवनमें भोजन आदि करनेके पूर्व अग्निमें कुछ देवोंके नामसे आहुतियाँ देना पर्याप्त होगा; किसी विशेष दिन सविधि उसे सम्पन्न करे; जैसे—हर मासकी पूर्णमासीको।

३–पितृयज्ञ—श्राद्ध करनेसे पितर प्रसन्न होते हैं। अतः इसका करना भी गृहस्थका धर्म है। इसके लिये ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। पितामह, प्रपितामहके श्राद्धमें एक-एक ब्राह्मणको ही भोजन कराना चाहिये, अधिक संख्यामें नहीं; जिसमें मित्रों आदि किसी अन्यको भी सम्मिलित नहीं करना चाहिये। यह कार्य अमावस्याके दिन ही करे। ब्राह्मणको वेदपाठी, ज्ञानी एवं सदाचारी होना चाहिये। वेद न पढ़नेवाले तथा आत्मज्ञानहीन ब्राह्मणको भोजन करानेसे यह क्रिया निष्फल रहती है, ऐसा स्मृतिकारोंका मत है। सुपात्र विद्वान्‌को भोजन करानेमें अधिक पुण्य होता है।

४–भूत-यज्ञ या बलि-प्रदान—पूर्व आदि दिशाओंमें प्रदक्षिणा करके पुरुषसहित इन्द्र आदि देवताओंके लिये बलि देना चाहिये। इसके लिये ये मन्त्र हैं—**प्राच्याम्–इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। दक्षिणस्याम्–यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। पश्चिमायाम्–वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। उत्तरस्याम्–सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः।** (चारों दिशाओंमें) **'मरुद्भ्यो नमः'** ऐसा कहकर द्वारमें बलि दे। **'अद्भ्यो नमः'** ऐसा कहकर जलमें, **'वनस्पतिभ्यो नमः'** कहकर ओखल-मूसलमें बलि दे।

इसके अतिरिक्त उत्तर-पूर्व दिशामें श्रीके लिये, दक्षिण-पश्चिम दिशामें भद्रकालीके लिये बलि दे। **'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः'** ऐसा कहकर दिनमें, **'नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः'** ऐसा कहकर रात्रिमें बलि दे। अन्तमें दक्षिणको मुख करके **'स्वधा पितृभ्यः'** ऐसा कहकर बलि दे। अन्तमें कुछ अन्न निकालकर कुत्ता, पतित, चांडाल, पापरोगी या कुष्ठी तथा क्षयरोगी, कौआ तथा कीड़े—इनके लिये अन्न भूमिमें इस प्रकार रखे कि धूल न लगे। इस प्रकारसे बलि देकर भूत-यज्ञको सम्पन्न करे।

५–अतिथि-सत्कार या नर-यज्ञ—वर्षभरमें पुनः किसी तिथिपर न आनेवाला व्यक्ति अतिथि कहलाता है। गृहस्थको उसका सत्कार करना चाहिये। उसका सत्कार भोजन, जल, बिस्तर, मधुर वचन आदिसे करे। भोजन समाप्त हो जानेपर भी आये अतिथिको खिलाकर ही स्वयं खाय, अकेले नहीं; क्योंकि इससे आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति अतिथिको भोजन करानेके पहले स्वयं भोजन कर लेता है, वह दूसरे जन्ममें कुत्ता या गीध होता है। अतः गृहस्थको चाहिये कि सदैव अतिथि और सेवकोंको भोजन करानेके पश्चात् पति-पत्नी भोजन करें। गृहपतिको सबसे बादमें भोजन करना चाहिये।

संक्षेपमें यह गृहस्थके कर्म हैं, जिनको करता हुआ गृहस्थ अपना कल्याण कर लेता है; क्योंकि मनुस्मृतिमें कहा गया है कि—

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिपथार्जुन॥
कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे॥

ऐसे कहे हुए प्रकारसे जो सब भूतोंको अन्न-दान आदिसे पूजता है, वह परम स्थान या तेजोमूर्ति स्वप्रकाश-को अर्चिरादि मार्गसे प्राप्त होता है या ब्रह्ममें लीन हो जाता है। ज्ञान और कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। गृहस्थ-जीवनमें दोनोंका समन्वय किया जा सकता है, अतः स्पष्टतः गृहस्थ-आश्रम जीवन-संतुलनका संधिस्थल है।

आजका गृहस्थधर्म शिथिल है। यदि साधारण ढंग-पर ऊपर वर्णितका भी पालन किया जाय तो गृहस्थ-धर्मकी मर्यादा और आत्मकल्याणकी दिशामें प्रगति हो सकती है। अतः सद्गृहस्थोंको यथासाध्य अपने सामान्य धर्मका अवश्य पालन करना चाहिये।

भक्त पुरुषोत्तम

गङ्गाजीके पवित्र तटपर एक गाँवमें पुरुषोत्तम नामक एक ब्राह्मणदेव रहते थे। इनके माता-पिता इनकी छोटी आयुमें ही मर गये थे। दादीने इनको पाला था। बुढ़िया दादीका भगवान्में सरल विश्वास था और वह दिन-रात मुँहसे राम-राम रटती रहती थी। दादीके शुभ सङ्गसे पुरुषोत्तमको भी राम-नाम रटनेकी बान पड़ गयी। राम-नाममें बड़ी अनोखी मिठास है, परंतु इस मिठासका अनुभव होता है रुचि होनेपर ही। किंतु यह रुचि भी होती है नामके सतत सेवनसे ही। पुरुषोत्तमजी तो बचपनसे ही राम-नाम रटने लगे थे। अतएव नाममें इनकी रुचि हो गयी और रुचि होनेपर इन्हें मिठास भी मिल ही गयी। राम-नामका यह रस इतना मधुर है कि इसके एक बार भी चख लेनेपर फिर इसके सामने सारे रस नीरस और फीके हो जाते हैं। श्रीतुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

(विनयपत्रिका)

'यदि मुझे राम मीठे लगे होते तो नव रस (शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—साहित्यके ये नव रस) और छः रस (कटु, तीक्ष्ण, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण—भोजनके ये छः रस) नीरस और फीके पड़ जाते।'

पुरुषोत्तम इस रसका स्वाद चख चुके थे, इसलिये इन्हें अब जगत्के किसी रसमें रति नहीं रह गयी थी। दादीने दो-एक बार कहा, फिर भी पुरुषोत्तमने विवाह नहीं किया। समयपर दादीका देहान्त हो गया। फिर तो पुरुषोत्तम सर्वथा स्वतन्त्र होकर राम-भजनमें लग गये। अपनी कुछ जमीन थी, उसीमें खेती करते। स्वयं परिश्रम करते और जो अनाज पैदा होता, उसीसे जीवन-निर्वाह करते। उस अनाजमें कुछ बचता, उसको

बेचकर कपड़ा, तेल, मसाला, हल आदि सामान ले आते । इनका नियम था—न माँगकर खाना, न बिना परिश्रमका खाना; न पड़े-पड़े खाना, न किसीसे कभी कुछ लेना—कम-से-कम आवश्यकता रखना और उसे अपने परिश्रमसे ही पूरा करना । पुरुषोत्तमके दिन बड़े ही सुखसे कटते थे । ये जब खेतमें परिश्रम करते, तब भी इनके मुँहसे रामका नाम और मनमें रामका ध्यान रहता । इनका सारा परिश्रम भी अपने इष्टदेव रामकी पूजाके लिये ही होता । इनके कर्म रामकी पूजा हो जाते थे । फिर भी ये भगवान्‌के विग्रहकी पूजा-अर्चा करते थे ।

घरमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर प्राचीन विग्रह था । बड़े प्रेम, चाव, भाव और विधिसे पुरुषोत्तमजी श्रीभगवान्‌की पूजा भी करते । स्वयं रसोई बनाकर भगवान्‌को भोग लगाते और उसी प्रसादसे अपने अंदर रहनेवाले भगवान्‌की तृप्ति करते ।

बाहर भी भगवान्‌को भोग लगाना और भीतर भी भगवान्‌को ही समर्पित करना । भक्त जो कुछ करता है, बाहर-भीतर सब भगवान्‌के लिये ही करता है । वह अपना अस्तित्व भी भगवान्‌के ही आधारपर मानता है । स्वतन्त्र न वह कुछ है, न उसका अपना कोई अलग कार्य है । उसके सारे कार्य भगवान्‌के कार्य हैं; क्योंकि वह सर्वदा और सर्वथा भगवान्‌का ही है । पुरुषोत्तम भक्तके सारे कार्य इसी भावसे सम्पन्न होते थे । निरन्तर भगवान्‌का अखण्ड स्मरण और भगवान्‌के लिये ही मन, वाणी, शरीरकी प्रत्येक क्षणकी प्रत्येक क्रिया, यही तो भगवदीय जीवन है । मानव-जीवनके लिये इससे सुन्दर जीवन और क्या हो सकता है ।

ज्यों-ज्यों भजन बढ़ता गया, त्यों-त्यों भावमें प्रगाढ़ता आती गयी । लगभग बारह वर्षकी साधनासे पुरुषोत्तमका सब कुछ राममय हो गया । अब उनकी खेती-बारी छूट गयी । खेती-बारी कहाँसे होती—गाढ़ समाधिमें भोजन पानेका भी कोई रास्ता नहीं रह गया । श्रीमद्भागवत (११ । १४ । २४)में कथित श्रीभगवान्‌की निम्नलिखित दशा इनमें पूर्णतया चरितार्थ होने लग गयी ।

भगवान् श्रीरामका नाम-गान करते हुए इनकी वाणी गद्गद हो जाती । चित्त द्रवित होकर आँखोंकी राह बहने लगता । एक क्षणके लिये भी रोना बंद नहीं होता । कभी ये खिलखिलाकर हँसने लगते, कभी लाज छोड़कर उच्चस्वरसे गाने लगते और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगते । भक्तिरसमें सराबोर हुए भक्त पुरुषोत्तमजीकी इस स्थितिमें जो कोई भी उनके पास आता, उनकी इस दिव्य भावमयी स्थितिके दर्शन करता, वही पवित्र हृदय होकर भावोन्मत्त हो जाता । वह भी भक्तिकी रसधारामें आप्यायित होकर नाच उठता ।

पुरुषोत्तमजीकी रामधुन दूर-दूरतक पहुँची । घर-घर और गाँव-गाँवमें लोग राम-नामका मधुर कीर्तन करने लगे । पुरुषोत्तमजीके दर्शनार्थ दूर-दूरसे लोग आने लगे । पर उनकी भाव-समाधि प्रगाढ़-से-प्रगाढ़तर होती गयी । ये सदा सर्वदा बाह्यज्ञानशून्य रहते और उपर्युक्त भावोंका विलक्षण प्रकाश इनमें निरन्तर होता रहता । इस दशामें ये पाँच वर्षतक रहे । एक दिन इसी दशामें भगवान् श्रीरामके विग्रहके सामने नाचते-नाचते ही इन्होंने तीन बार बड़े जोरसे राम-नामका घोष किया और उसी क्षण इनका ब्रह्मरन्ध्र फट गया ! शरीर भगवान्‌के श्रीविग्रहके चरणोंपर गिर पड़ा !! उस समय भी उनके मुखमण्डलपर अपूर्व तेज छाया हुआ था और मानो इनके रोम-रोमसे रामध्वनि हो रही थी !!! भक्तने भगवान्‌को पा लिया और सदाके लिये धन्य हो गया ! बोलिये भक्त और भगवान्‌की जय !

विश्व-बालवर्षके संदर्भमें—

वह कौन है ?

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

बालकका प्रश्न—

अम्मा ! ये वन-बाग-बगीचे सुषमा किससे पाते ?
मृदु कलरवसे विहगवृन्द किसका संगीत सुनाते ?
किसने हरित प्रकृतिमें मादक मौक्तिक कण छिटकाये ?
वृक्षोंपर किसने मधु-फल, सुरभित प्रसून लटकाये ?
ठीक समयपर दिवस-रात्रि, ऋतुएँ माँ ! कैसे आतीं ?
शिशिर कँपाती, ग्रीष्म तपाती, पावस जल बरसाती ?
कौन गगनको रंग-बिरंगे मेघ-वस्त्र पहनाता ?
बिजली छटा दिखाती कैसे इन्द्रधनुष मुस्काता ?
माँ ! किसकी अनुमतिसे रवि-शशि जग आलोकित करते ?
तमके आँगनमें तारागण झिलमिल द्युति क्यों भरते ?
कौन नदी-सागरके जलमें अतुल तरंगें लाता ?
किसकी प्रबल प्रेरणा पाकर पवन झकोरें खाता ?
प्यारी अम्मा ! बतला मुझको, वह कितना बलशाली ?
जो जीवोंको जीवन देकर करता फिर रखवाली ?
किसकी कला-चातुरीसे यह विश्व विनिर्मित महा विशाल ?
क्या है उसका नाम, कहाँ वह रहता ? कह तत्काल ॥

माँका उत्तर— * * *

बेटा ! परमेश्वरकी माया यह जगकी छवि है प्यारी ।
उसके ही अक्षय गुण गाती विहग-मण्डली सारी ॥
उसने ओस-बिन्दु बगराये, लटकाये फल-फूल ।
अखिल विश्वका वही नियन्ता, कभी न जाना भूल ॥
ऋतुएँ और रात-दिन बेटा ! वही समयसे लाता ।
नील गगनको सुन्दर घन-वस्त्रोंसे वही सजाता ॥
बिजली बनकर चमके या मुस्काये बन सतरंगी ।
सबमें ज्योति उसीकी है, समझो उसको बहुरंगी ॥
बेटा ! उसके संकेतोंपर रवि, शशि और सितारे ।
भ्रमणशील हैं, उदय-अस्त होनेमें कभी न हारे ॥
उसके ही संकल्पोंसे हैं सरिता-सिंधु तरङ्गित ।
पवन झकोरे खाता है या रहता शान्त सुगन्धित ॥
मेरे बेटे ! है अनन्त वह शक्तिमान् रखवाला ।
उसकी कारीगरी अनोखी, है वह बड़ा निराला ॥
अगणित नाम-रूपवाला, अणु-अणुमें उसकी सत्ता ।
वह अविनाशी परब्रह्म है, जिसकी अतुल महत्ता ॥

जीवन तुच्छ बातोंमें नष्ट करनेके लिये नहीं है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी 'महेन्द्र', एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

बच्चे स्कूलमें मन लगाकर नहीं पढ़ रहे हैं। परीक्षाओंमें अनुत्तीर्ण होकर वर्ष (अपना समय) नष्ट कर रहे हैं। बाजारमें वस्तुओंके मूल्योंमें भारी उतार-चढ़ाव चल रहा है, हमारे व्यापारमें हानि न हो जाय—ऐसी आशङ्का सर्वत्र व्याप्त है। पुत्रीका विवाह-सम्बन्ध कहीं निश्चित नहीं हो पा रहा है, कहीं आजन्म कुँआरी न रह जाय। पुत्रको स्थायी रोजगार प्राप्त नहीं हो रहा है। घरमें कोई-न-कोई प्रतिदिन बीमार पड़ा ही रहता है, कहीं किसीकी मृत्यु न हो जाय। पड़ोसियों और सम्बन्धियोंसे पुरानी रंजिश चल रही है, कहीं कोई हत्या अनिष्ट न हो जाय। इस प्रकार रोग, व्याधि, आर्थिक-हानि, विनाश और संकट एवं मृत्यु आदिसे सम्बद्ध चिन्ताएँ भय, घृणा, निष्फलता और नैराश्य आदि मनोविकारजन्य मानसिक-व्यथा आपको परेशान किये रहती है। इसका कारण मानवके गुप्त मनमें छिपी हुई हीनत्वकी भावनाएँ हैं। हीनताके बोधके साथ-साथ मनुष्यके गुप्त मनमें नाना प्रकारके काल्पनिक भयकी चिन्ताएँ प्रवेश कर लेती हैं। इन भयोंके बीज माता-पिता या घरेलू वातावरणके द्वारा बचपनमें ही बोये जाते हैं। जिन बच्चोंको बात-बातपर अनुचितरूपमें डराया-धमकाया या लज्जित किया जाता है, उन बच्चोंके गुप्त मनमें निरर्थक आशंकाएँ और काल्पनिक भय जड़ें जमा लेती हैं। फलतः वे डरपोक, चंचल, झक्की, अस्थिर, निराशावादी, नास्तिक और झगड़ालू स्वभावके बन जाते हैं।

बचपनके भय हमारे जीवनके नये अनुभवोंके साथ अपना रूप बदलते रहते हैं, पर गुप्त मनमें जड़रूपमें विद्यमान मूलभाव नहीं बदलता। ऐसे डरपोक व्यक्तियोंका डर अजीब प्रकारके रूपोंमें प्रकट होता रहता है। भय नामक मनोविकारग्रस्त व्यक्तियोंकी संख्या समाजमें बहुत अधिक है। वे तनिक-सी प्रतिकूल परिस्थिति मिलते ही बेतरह घबड़ा उठते हैं। रोग, मृत्यु, हानि, मुकदमा, अपमान, घृणा, तिरस्कार, अनिद्रा, अपच, आक्रमण, विछोह, दुर्घटना आदिसे आतङ्कित होनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या प्रचुर है। परंतु सदा यह ध्यान रहे कि ये विघ्न हैं, बाधाएँ हैं और पग-पगपर अड़चन उपस्थित करनेवाले हैं। फिर भी इतना निःसंदिग्ध है कि इन्हीं अड़चनों और प्रतिकूलताओंसे मानवजीवन बनता है! यदि विपदाओंसे लोहा न लेना पड़े, तो जीवन ही कैसे बने? भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२ । ४७)में अर्जुनको इन कठिनाइयोंसे युद्ध कर कर्तव्य पूरा करनेका ही उपदेश दिया था और कहा था कि अपने कर्तव्यकर्म करते जाओ, फलकी इच्छा न करो, क्योंकि फलमें तुम्हारा अधिकार ही नहीं है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा…'
'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा…।'
(गीता २ । ४८)

अर्थात् हे मानव! फलासक्तिका परित्यागकर एवं सफलताओं और असफलताओंमें एकरस होकर कुशलतासे कर्म (अपना कर्तव्य) पूरा करो। **'कर्मक्षेत्रं हि मानुष्यम्'** (महाभारत) अर्थात् मानवजीवन कर्मक्षेत्र है।

चाणक्यने कहा है—**'न कृतार्थानां मरणं भयम्।'**

अर्थात्—'जो वीर पुरुष अपने कर्तव्योंके पालनमें लगे रहते हैं, उन्हें मृत्यु-भय नहीं होता।' जब मृत्युभय भी नहीं तो और बाधाएँ, विघ्न, अड़चनोंका कैसा भय।

हम व्यर्थ ही छोटी-छोटी उलझनोंको लेकर परेशान हो उठते हैं। किसी भी तुच्छ घटनाको लेकर उद्विग्न

हो उठते हैं। तनिक-से अपमानको तूल देकर क्षुब्ध हो जाते हैं। पारिवारिक या व्यापारिक समस्याओंपर तुरंत सोचकर परेशान होने लगते हैं—जबकि उनमेंसे अधिकतर समस्याएँ स्वयं ही समाहित हो जानेवाली हैं। बहुत-से भय सहज काल्पनिक होते हैं जो पानीके बुल्बुलोंकी तरह समयके साथ नष्ट हो जानेवाले हैं। छोटी-छोटी चिन्ताएँ तो प्रतिदिन हो जायँगी। आपको उन्हें साहसपूर्वक स्वयं ही निर्मूल करना होगा। प्रायः जिन तुच्छ बातोंके लिये हम परेशान होते हैं, उन्हें हमें भूल जाना चाहिये और अच्छे कामोंमें लगकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। कैसा दुःख है कि हम उसीसे घबड़ा उठते हैं। अन्ततः साहस और धैर्य किस दिनके लिये हैं ? उनका अवलम्बन लीजिये।

इस संसारमें हमारा जीवनकाल सीमित है। उसे ऊँचे उपकारी कामों, अच्छी भावनाओं, महान् विचारों, सच्चे स्नेह तथा स्थायी उद्योगमें लगना चाहिये, तुच्छ बातोंमें नहीं। मानवमें और पशुओंमें अन्तर तो होना ही चाहिये।

चौबीससौ वर्ष पहले एक समझदार विद्वान् पेरीक्लने ये बहुमूल्य शब्द कहे थे—"Come, gentlemen, we sit too long on trifles,"—भाइयो ! हम बेकारकी बातोंको अनुचितरूपसे व्यर्थ ही तूल देते हैं। और यदि आप दूर-दृष्टिसे विचार करें तो वास्तवमें हम उन तुच्छ भयोंको महत्त्व देते हैं, जिन्हें वस्तुतः हमें भूल जाना चाहिये या उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। जीवनके अमूल्य क्षण जो कभी वापस लौटकर नहीं आते, व्यर्थकी बातोंमें नष्ट करनेके लिये नहीं हैं।

जीवन एक लम्बी यात्रा है। इस यात्रामें अनेक काँटेदार मार्ग आयेंगे, कंकड़-पत्थर पावोंको घायल कर देंगे, प्रकृतिकी ओरसे आनेवाले तूफान, बर्फ, भूचाल, हिमपात, आँधी, वर्षा, बिजलियाँ आपको परेशान करेंगी, पर अन्तमें आप अपने उच्च लक्ष्यकी पूर्ति कर सकेंगे। अन्ततः जब आप अपने लक्ष्य—मंजिलपर पहुँच गये तो मार्गकी निकम्मी बातोंको याद कर-करके परेशान होनेसे क्या लाभ ! जो भूलनेयोग्य तुच्छ बातें हैं, उन्हें निष्प्रयोजन ही स्मरण करके हमें क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। कभी न घटनेवाली घटनाओंके विषयमें चिन्तित रहनेकी कुप्रवृत्ति त्याग दीजिये। आज आप जिस उम्रमें हैं उससे दस-बीस साल पहलेकी घटनाओंके अदृष्ट भयोंको स्मृत करके देखिये, जिनके कारण आप व्यर्थ ही परेशान थे और जो कभी घटी ही नहीं। आप आज अवश्य यह अनुभव करते होंगे कि वे चिन्ताएँ कितनी मूर्खतापूर्ण थीं। ऐसे ही सामयिक भय और चिन्ताएँ हो सकती हैं, जो कभी न घटें। अतः उनसे परेशान न होइये।

ड्वाइट मूडी नामक एक विद्वान्की आगे दी गयी उक्ति याद रखिये। वे मनोविज्ञानके आचार्य थे। एक बार उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा—'आपको जीवनमें जो सबसे उत्तम विचार लगा, वह खोजकर लाएँ। सर्वश्रेष्ठ उपयोगी विचारपर पाँच सौ डालरका पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।'

बहुत-से विचार प्रतियोगितामें आये। शिष्योंने पुस्तकें खोज डालीं। धर्मशास्त्रोंमें खोज की। अनेक लोगोंसे विचार-विमर्श किया गया। असंख्य विचार सामने आये; किंतु लीजिये जिस विचारपर वह इनाम दिया गया, वह क्या था; देखिये—

'लोग-बाग झुँझलाते हैं कि ईश्वरने गुलाबके साथ आखिर काँटे क्यों लगाये हैं, किंतु उन्हें उल्टा ईश्वरका कृतज्ञ होना चाहिये कि गुलाबके चारों तरफ काँटे लगा कर जीवनकी कठोरतासे गुजरनेका रास्ता दिखाया।'

हम गुलाबको प्राप्त करनेके लिये कठिनाइयों और अड़चनोंके कँटीले मार्गोंसे तो गुजरें, पर अपनी दृष्टि

अपने उच्चतम लक्ष्य (गुलाबके फूल)की ओर ही लगाये रहें। अपने अभिशापोंको ही न देखें, वरन् अपने द्वारा अर्जित वरदानों, अपनी उपलब्धियोंको भी देखें, उनका आनन्द लें, उनसे नवीन प्रेरणा प्राप्त करें। दूसरोंको भी उनमें भाग दें। जीवनका काला पक्ष न देखकर उजला पक्ष देखकर उत्साह और आनन्द पाते रहें। जीवनको तुच्छ बातोंमें नष्ट न करें। यदि स्वयं ऐसा न कर सकें तो अपने बड़े-बूढ़ोंके पास जाइये; उनसे समझिये और वैसा आचरण कीजिये—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

महामना मालवीयजी महाराज इस व्यास-वचनको सदा दुहराते रहते थे कि उठो, जागरूक रहो और बिना परेशान हुए अच्छे कामोंमें सदा जुटे रहो। वे पूर्ण होंगे ही—ऐसा मनोबल कर ध्येयकी प्राप्तिमें लग जाओ—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यत्येवेह मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

इच्छा, आसक्ति और श्रद्धा

(लेखक—श्रीगोरखनाथ सिंहजी)

गति जीवन है, अगति अवसान। सारा संसार गतिशील है। इसलिये—'गच्छति इति जगत्' ऐसा कहा गया है। जीवनमें गतिसे आशय है, हृदयमें धड़कन, मस्तिष्कमें विचार-प्रक्रिया तथा इन्द्रियोंमें उनके विषयोंमें सहज अनुरक्ति। इन तीनोंका इच्छासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस क्षण इनका पर्यवसान हो जायगा, उसी क्षण इस जीवनका भी अन्त सुनिश्चित है। अतः विचार-प्रक्रिया, इच्छा, आसक्ति जीवनके ऐसे उपग्रह हैं, जो इसके चतुर्दिक् सतत घूमा करते हैं। ये ही इसके उत्थान-पतनके भी कारण हैं।

यह शरीर स्थूल-सूक्ष्मके संयोगसे निर्मित स्वचालित यन्त्र है। इसकी सभी प्रक्रियाओंकी उत्पत्ति इच्छासे प्रथित है। इच्छाएँ किन्हीं आवश्यकताओंसे जुड़ी होती हैं। इनकी सम्पूर्ति यत्नकी अपेक्षा रखती हैं। यत्न किसी फलसे अनुप्राणित होते हैं। यद्यपि किसी इच्छाकी पूर्तिमें प्रयत्न करना सहज धर्म है, तथापि यह सदैव श्रमसाध्य है। यदि अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है तो हम श्रमको भूल जाते हैं, अन्यथा कष्टकी अनुभूति करते हैं। यह भी निर्विवाद है कि सोद्देश्य कार्य करना कष्टकारक है, तथापि इस भूतलपर कोई ऐसा जीव न होगा, जो फलसे प्रेरित होकर कार्य न करता हो। चाहे खेतकी जुताई करनेवाला किसान हो अथवा राजनीतिका दाँव-पेंच करनेवाला राजनयिक अथवा सम्पूर्ण संसारका तथाकथित त्याग करनेवाला योगी। त्यागीके जीवनमें भी कोई-न-कोई उद्देश्य, जैसे—मोक्ष आदि होते ही हैं। इसीसे अनुप्राणित होकर वह संसारका सम्यक् त्याग करता है। खेतकी जुताई करनेवाला किसान, उसमें बीज इस उद्देश्यसे बोता है, कि वह अपने बाल-बच्चोंका पालन-पोषण कर सके। वह फलसे उसी प्रकार प्रेरित है, जैसा कि मोक्षके लिये संसारको परित्याग करनेवाला योगी। पुनश्च कोई ऐसा व्यक्तिवादी नहीं है, जो अपनेमें ही सर्वथा पर्याप्त हो। अतः वह निश्चितरूपसे परोपजीवी है यानी वह समाजका आभार ग्रहण करता है

करता है। इस प्रकार सभी वर्ण एवं आश्रमोंका परस्पर सहयोग, आश्रय, अन्योन्यसंबन्ध अपरिहार्य दीखता है। जो इसे ठीकसे समझता है, वह उदारतापूर्वक सम्पूर्ण विश्वमें सबको भगवान्‌का रूप देखता हुआ, उसे एक कुटुम्ब-सा मानता है—जो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का प्राचीन भारतीय सिद्धान्त है। स्वभावको अतिक्रमणकर फलेच्छाका त्यागना कुछ कठिन अवश्य है पर यह सिद्धान्त हृदयमें बैठ जाय कि फलाधिकार हमारा नहीं हैं तो उसके त्यागमें कुछ सहूलियत हो जाती है।

इच्छा और आसक्तिमें अन्तर है। इच्छा करनेमें यत्न संनिहित है, किंतु आसक्तिमें नहीं। जैसे यदि हम किसी पेड़की शीतल छायामें देरतक बैठे रहें और तत्पश्चात् तेज धूपमें चलना पड़े तो उक्त छायाके प्रति एक अनुरक्ति अथवा आसक्ति हो जाती है। बार-बार उस छायाके प्रति हृदयमें टीस उठती है, जिसे आसक्ति, अनुरक्ति, मोहकी संज्ञा दे सकते हैं। यह आसक्ति उस छायाको मस्तिष्कमें बार-बार लाती है और वहाँ लौट चलनेके लिए प्रेरित करती है। पर वहाँ लौटकर चलना हमारे लिए यदि असम्भव नहीं तो दुःखद अवश्य होता है; क्योंकि हमारा गन्तव्य आगे होता है। फलतः उक्त छायाके अभावमें हमारे हृदयमें तबतक टीस उठती रहेगी, जबतक हमें धूपमें चलना पड़ेगा। यहींपर यदि विवेककी लगाम मन-पर लग गयी तब तो हम कठिन धूपको बर्दाश्त करते हुए अपने गन्तव्यपर पहुँच जायँगे, भले ही उस स्वप्निल छायाकी स्मृति हमारे मानसपटलपर कौंध रही हो; अन्यथा इसके अभावमें हम मानसिक अन्तर्द्वन्द्वके शिकार हो जायँगे। विवेक कुण्ठित हो जायगा। परिणामतः **'सङ्गात् संजायते कामः'** वाली स्थिति उत्पन्न हो जायगी। हम अपना सर्वनाश भी कर सकते हैं।

इच्छाका प्रगाढ़रूप आसक्ति है। किंतु जब रागात्मिका प्रवृत्तिकी चरमपरिणतिका विशुद्ध-परिपाक हो जाता है, तब श्रद्धाका अभ्युदय होता है। उल्लेखनीय है कि इन दोनोंके मूलमें 'इच्छा' है। श्रद्धा किसी व्यक्तिके उच्चादर्शसे ओत-प्रोत आचरण अथवा कार्यके प्रति होती है। यह विशुद्ध-मानवीय-मूल्य है। पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ोंमें इसका अभाव होता है। उदाहरणार्थ, गौरैयाने बेरके पेड़में घोंसला बनाया, उसमें अण्डे दिए, सेये और बच्चे निकले; पर वे जब पंख जम गये तो उस घोंसलेसे बिना किसी आसक्ति एवं श्रद्धाके उड़ गये। वे उक्त दम्पतिको भी भूल गये। उनसे **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'**की बात करनी निरर्थक है। शायद जिस घोंसलेमें वे पैदा हुए उसके प्रति उनमें कुछ आसक्ति रही हो, किंतु वह भी 'न' के बराबर; क्योंकि उड़ जानेके बाद वे अपना घोंसला स्वयं बना लेते हैं।

आसक्तिमें स्वार्थका पुट होता है, किंतु श्रद्धा इससे सर्वथा निर्लिप्त है। इसलिए श्रद्धालुको श्रद्धेयमें—**'सत्यं शिवं सुन्दरम्'**की कोई-न-कोई झाँकी अवश्य ही दिखायी पड़ती है। तभी वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। आसक्तिमें इसका उल्टा होता है; यथा—माता-पिताकी अपनी बुरी संतानमें भी आसक्ति देखी जाती है। आसक्तिमें संयम, मर्यादा, अनुशासन तथा विवेकका स्थान नगण्य होता है। फिर भी आसक्तिवान् व्यक्ति भी श्रद्धालु हो सकता है। इससे श्रद्धेयमें कोई विकार नहीं पैदा हो सकता है। आसक्तिका किसी 'कु' अथवा 'दुर्' से संयोग होना अनिवार्य है; जैसे खैनी तम्बाकूका सेवन करनेवाला कृषक खेतमें हल-बैलको खड़ाकर किसी अपरिचित राहगीरसे भी (अमल लगनेपर) चूने और सुर्तीके लिए हाथ फैला सकता है। उसकी यह आसक्ति ही उसे ऐसा करनेके लिए विवश करती

है। उसे खैनी मिलनी ही चाहिये। इसी प्रकार मद्य, सुरामें अपनी आसक्तिके कारण अपनी पत्नीके जेवर बेचकर भी मद्यपान कर सकता है—भले ही उसके बच्चे सूखे चनेके लिये तरसते हों।

जिस वस्तुमें हमारी आसक्ति हो जाती है, हम उसके लिये इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उसे प्राप्त करनेके लिये अपना सर्वस्व निछावर कर सकते हैं। यही उसकी आसक्तिका ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें विवेक, संयम, मर्यादा, अनुशासन—सब शून्य हो जाते हैं। यह कहावत है कि प्रेम अंधा होता है, इसी स्थितिका द्योतक है।

श्रद्धा और आसक्ति दोनोंका स्रोत एक है, किंतु प्रयोजन अलग-अलग। मनरूपी भूतलसे गुलाबका इच्छा-रूपी पौधा उत्पन्न होता है, जिसमें काँटे और फूल दोनों एक साथ होते हैं। एक अपनी सुगन्धसे वातावरणको सुगन्धित करता है, दूसरा अपनी बगलके पुष्पके शरीरको ही छेदता है। फूल धूल-धूसरित होकर भी महँकता है, किंतु काँटे फूलकी पँखुड़ियोंका स्पर्शकर भी काँटे-के-काँटे ही रहते हैं। यदि आसक्ति काँटा है तो श्रद्धा फूल है।

'इच्छा' का मूलकारण प्रकृति या प्रवृत्तियाँ हैं। ये जन्मजात होती हैं तथा यन्त्रवत् कार्य करती हैं। हमारे यहाँ आहार, निद्रा, भय, मैथुनकी प्रवृत्तियोंका उल्लेख है। ये पेड़-पौधों, कीड़े-मकोड़ोंमें भी पायी जाती हैं। जैसे—यदि किसी सुन्दर रँगीली तितलीको, जो एक सूर्यमुखीपर बैठी है, एक नन्हा-मुन्ना पकड़नेके लिये ज्यों ही अपनी कोमल अँगुलियोंको आगे बढ़ाता है, वह तुरंत उड़ जाती है और सूर्यमुखीकी पँखुड़ियाँ हिलकर सहम जाती हैं। यह बिल्कुल वैसे है, जैसे किसी काले सर्पको देखकर जब वह अपना फण उठाकर फूँ-से करके हमारी तरफ दौड़ता है और हम भयवश भागना शुरू कर देते हैं।

आज यह सर्वविदित है कि संयोगकी प्रक्रिया सूक्ष्म-रूपसे पेड़-पौधों और फूलोंमें भी होती रहती है। उनमें भी एक दूसरेके प्रति आसक्ति होती है। तभी तो मधुमक्खियाँ, चीटियाँ, दीमक, पक्षी तथा वन्यपशु एक समूहमें रहते हैं। किंतु उनमें 'श्रद्धा'-जैसे मानवीय गुणका सर्वथा अभाव होता है। अतः यदि हमारे अन्दर भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मेंसे किसी एकके प्रति भी श्रद्धा नहीं है, तो हम पशुवत् हैं।

श्रद्धा और आसक्ति दोनोंका सहअस्तित्व है, पर दोनों विरोधी गुणवाले हैं। श्रद्धाका उपासक अपने अस्तित्वको खोकर भी अनन्तकालके प्रवाहमें विलीन नहीं होता। वह स्वतः श्रद्धा-स्वरूप हो जाता है। परंतु आसक्तिके चंगुलमें फँसा व्यक्ति अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ता है। इसीको प्राप्त करनेके लिये गीता (४। ३९) में कहा गया है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है; उसके बाद संयत इन्द्रियवालेको ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त हो जानेपर वह शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

किंतु विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये वस्तुतः न तो यह लोक है और न परलोक या सुख ही है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४०)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दृढ़-प्रतिज्ञकी मनस्विता

(एक प्रेरक प्रसङ्ग)

ब्रह्म-समाजके नेता, समाजसुधारक और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्रीशिवनाथ शास्त्रीकी प्रेरणासे १९वीं सदीके अन्तमें कलकत्ताके कुछ नवयुवकोंने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे जीवनभर अपनी मातृभूमि और दलित-पीड़ित समाजके उत्थान तथा जन-सेवामें सतत लगे रहेंगे और विदेशी सरकारकी ओरसे दी गयी कोई नौकरी कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

इन युवकोंमें एक गरीब माँ-बापका बेटा भी था, जिसने १८८८ ई०में कलकत्ता विश्वविद्यालयसे अंग्रेजी विषय लेकर बी० ए०की परीक्षा, सर्वोच्च अङ्क प्राप्त करके सर्वप्रथम, प्रथम-श्रेणीमें उत्तीर्ण की थी। उसकी प्रतिभा और तीव्र बुद्धिसे प्रभावित होकर बंगालके कुछ अंग्रेज-अधिकारियोंने उसे एक विशेष छात्रवृत्ति देनेका निश्चय किया था, जिससे वह विदेश जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके। परंतु अपनी पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उक्त मेधावी युवकने विदेशी सरकारकी उक्त छात्रवृत्ति लेनेसे इन्कार कर दिया। यद्यपि उन दिनों इस प्रकारकी छात्रवृत्तिका मिलना बड़े सम्मान और गौरवकी बात थी। उस समय उसका व्यक्तिगत जीवन भी अभावग्रस्त, कठिनाई और कष्टोंमें व्यतीत हो रहा था, फिर भी स्वाभिमानी और दृढ़-प्रतिज्ञ इस छात्रको कोई भी प्रलोभन डिगा न सका। कर्त्तव्यके प्रति निष्ठा और वचनबद्धताके समक्ष व्यक्तिगत स्वार्थ सदा उपेक्षणीय ही बना रहा।

उस मेधावी और दृढ़ निश्चयी युवकका नाम था— 'श्रीरामानन्द चट्टोपाध्याय' जो आगे चलकर एक महान् विचारक और सुप्रसिद्ध पत्रकारके रूपमें समस्त भारतमें प्रसिद्ध हुए। सच है—

'मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न च गच्छति।'

—डॉ० नागेश्वरसिंह 'शशीन्द्र', विद्यालंकार

(२)

नेक कमाई या ईमानदारी

घटना मार्च १९७४की है। मैं हिमाचल प्रदेशकी लिखित शासकीय परीक्षामें उत्तीर्ण होकर साक्षात्कार-हेतु शिमला गया हुआ था। घरसे शिमलातकका किराया बीस रुपये लगता है। साथमें मात्र एक सौ तीस रुपये लेकर गया था। तीस रुपये तो रास्तेमें ही समाप्त हो गये थे। शिमला पहुँचनेपर मात्र सौ रुपये-का एक नोट ही बचा था। वहाँपर एक 'टूरिस्ट-होटल' में मैं ठहरा। शामको मालरोडपर घूमने निकला तो मुझे मेरे कालेजका एक साथी, जो वहाँ एम्० ए० कर रहा था, अचानक मिल गया। सौभाग्यसे हम दोनोंकी कुछ वृत्ति अध्यात्मकी ओर रहती थी; अतः बहुत दिनों बाद मिलनेपर आज पुनः आत्मा-परमात्मा-विषयक चर्चा करते हुए हम यत्र-तत्र घूमते रहे। बीचमें एक रेस्टोरेंटमें जाकर हमने 'काफी' पी। रातके आठ बज रहे थे। अतः अब हमलोग टूरिस्ट होटलके लिये चल दिये। विश्वविद्यालयमें मुझे कुछ कार्य था, सोचा—'दूसरे दिन सम्भवतः व्यस्ततावश मैं स्वयं वहाँ न जा पाऊँ'; अतः मैंने मित्रसे कहा—'विश्वविद्यालय जाकर हिंदी-विभाग-कार्यालयमें मेरा यह फार्म तुम जमा करवा दो तो बड़ा अच्छा हो।' कहनेके साथ मैंने कोटकी जेबमें हाथ डाला और फार्म निकालकर उसे दे दिया। पुनः मालरोडकी सीढ़ियोंसे उतरकर हम दोनों रामबाजारसे होते हुए अपने गन्तव्य निवास-स्थानकी ओर बढ़ गये। मालरोडसे टूरिस्ट होटल लगभग दो मीलके फासलेपर पड़ता है। हम पारस्परिक वार्त्तालापमें मग्न आगे बढ़े जा रहे थे। शिमला शहरमें व्यक्तियोंके आवागमनसे प्रायः रात-दिन समानरूपसे चहल-पहल बनी रहती है। इस समय भी बहुतसे लोग आ-जा रहे थे।

निवास-स्थानसे हम अभी कोई फर्लांग भरकी दूरीपर ही पहुँचे होंगे कि दो पठान नवयुवक कुली भाई दौड़ते हुए हमारे पास आकर रुक गये। हाँफते-हाँफते उनमेंसे एकने मुझसे कहा—'बाबूजी! आपका कुछ गिरा तो नहीं है?' मैंने बड़ी लापरवाहीसे उत्तर दिया—'नहीं भाई, कुछ नहीं गिरा है।' इसपर उन दोनोंने पुनः जोर देकर कहा—'बाबूजी! अपनी जेबोंकी आप फिरसे तलाशी ले लें। हो सकता है, कुछ गिर गया हो।'

इसपर मैंने कोट-पैंटकी जेबें उलट-पुलटकर देखीं। आश्चर्यकी बात कि जेबमें रखा मेरा सौ रुपयेका नोट गायब था। इसी नोटसे मुझे होटल-चार्जका रु० ६०.०० तथा घरतक पहुँचनेके लिये अभी रु० २०.०० खर्च करने थे। मैं घबरा गया। मुझे काटो तो खून नहीं। आँखोंमें आँसू छलक आये। पठान भाईसे मैंने कहा—'मेरे पास सौ रुपयेका एक नोट था। वही कहीं गिर गया है।' इसपर उनमेंसे एकने मुझे वही सौका नोट देते हुए कहा—'बाबूजी! मालरोडकी पौड़ियों (सीढ़ियों)से उतरते समय जब आपने कोई कागज निकाला था, तभी यह गिर गया था। हम यह देख रहे थे। नोट लेकर हम दोनों आपके पीछे-पीछे दौड़े चले आये। खुदाका शुक्र है कि आप मिल गये।' यह कहते-कहते उनका गला भर आया था। मेरी आँखोंसे भी कृतज्ञताके आँसू छलक पड़े। अपने मित्रसे दस रुपये लेकर मैंने उन्हें पुरस्कार रूपमें देना चाहा, पर उन्होंने नहीं लिया। कहाँ नाना-विध लोगोंसे भरा-पूरा वह शिमला शहर, कहाँ हमारा मालरोडसे दो मील दूरतक चले आना और कहाँ पठान बन्धुओंद्वारा गिरते हुए नोटको देख लेना तथा फिर हमें ढूँढ़-खोजकर हमारे सुपुर्द कर देना! इस घटना-क्रमसे मैं यह न जान सका कि इसे नेक कमाईका चमत्कार कहूँ या पठान बन्धुओंकी ईमानदारी! वस्तुतः पठान कुली-भाइयोंकी ईमानदारी ही स्पष्टतः प्रत्यक्ष है। मेहनतकश गरीब अब भी ईमानदार हैं और इन्हींके द्वारा कभी-कभी आदर्श शिक्षा भी मिल जाती है। —गिरिधर योगेश्वर

(३)

बचानेवाला एकमात्र ईश्वर है

गर्मियोंके दिन थे। एक दिन रातके समय हमारे एक प्रधानाध्यापक महोदय अपने शयनकक्षमें सो रहे थे। ऊपर सीलींङ्गफैन (छतमें लटकनेवाला पंखा) चल रहा था। रातके करीब दो बजेका समय होगा। तभी एकाएक उनकी आँखें खुल गयीं। उस समय उन्होंने अपने आपको पसीनेसे तर पाया। यद्यपि पंखा पूरी गतिसे चल रहा था, फिर भी उन्हें अजीब-सी बेचैनी और गर्मी महसूस हो रही थी। इस बेचैनीका कारण उनकी समझमें नहीं आ रहा था। दुबारा सोनेका प्रयास किया, पर नींद नहीं आयी। अन्ततः वे मकानके आँगनमें जाकर खुली हवामें टहलनेके लिये उद्यत हुए। उन्होंने सोचा—'खुली हवामें टहलनेसे कुछ शान्ति मिलेगी।' वे ज्यों ही पलंगसे उठे, त्यों ही तेजीसे घूमता हुआ पंखा धड़ामसे नीचे पलंगपर आ गिरा। उनका हृदय धक्से रह गया! यदि उन्होंने पलंगसे उठनेमें एक क्षणकी भी देर की होती तो पंखा निश्चित उनकी छातीपर आ गिरता और उनके प्राण ले लेता।

आत्म-विश्वासपूर्वक उनका यह कथन था कि मात्र ईश्वरने ही उस दिन अपनी कृपा-शक्तिसे उनके प्राणोंकी रक्षा करके आसन्न मृत्युको पीछे ढकेल दिया था; अन्यथा वे इस प्रकार अकारण बेचैनी अनुभव ही क्यों करते तथा बाहर टहलनेके लिये उठनेका उपक्रम भी किसलिये करते? यह सत्य है कि जीवमात्रके सच्चे हितैषी, परमपिता परमात्माकी अहेतुपूर्ण दयामयी इच्छा ही सर्वत्र सबकी रक्षा करती है। इस तथ्यको बिना किसी आग्रहके स्वीकार करके हम सब यदि अपना जीवन शीघ्र ही भगवद्विश्वास और आस्तिकतायुक्त पूर्णतः भगवदाश्रयी बना लें तो भगवत्कृपासे फिर हमारे जीवनमें किसी प्रकारकी अवाञ्छनीय घटना ही न घटे 'भगवान्‌ने स्वयं कहा है—**न मे भक्तः प्रणश्यति।** (मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।)

—महेन्द्रसिंह महलान

(४)

उदार डॉक्टर-दम्पति

पूनाके टी० बी० सेनेटोरियमके सुपरिन्टेन्डेन्ट डॉ० कौस्तुभने अपनी एक रसियन नर्स (सुचेता) के गुणोंसे आकर्षित होकर उसके साथ विवाह कर लिया। विवाह करनेके पश्चात् उन्होंने नौकरीसे त्याग-पत्र दे दिया। वे मैसूरके निकट एक टीलेपर झोपड़ी बनाकर रहने लगे और दोनों ही प्रतिदिन चार घंटे मैसूरके सिविल-हॉस्पीटलमें रोगियोंकी बिना किसी प्रलोभनके (एकदम निःशुल्क) निःस्वार्थ सेवा करने लगे।

एक दिन उन्होंने देखा कि पाँच वर्षका एक बालक उनकी झोपड़ीके पास पड़ा-पड़ा कराह रहा है। बहुत पूछनेपर उसने इतना ही बताया कि 'मुझे टी० बी० हुई है, मेरा निर्धन पिता मुझे मरनेके लिये यहाँ फेंक गया है!'

संतानहीन डॉक्टर-दम्पतिको इस प्रकार अप्रत्याशित रूपसे बालक मिल जानेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। लगनशील दम्पतिकी योग्य देखभाल तथा अथक सेवासे वह बालक थोड़े ही दिनोंमें पूर्णरूपेण रोगमुक्त हो गया। पश्चात् एक दिन डॉक्टर कौस्तुभके पास एक पागल-जैसी स्त्री आकर खड़ी हो गयी। वह कभी हँसती और कभी थोड़ी ही देरमें रोने लगती। कभी वह ऊँची आवाजमें बोलने लगती—'मेरा लाल कहाँ गया?' जब उसने उस बालकको देखा तो अत्यधिक हर्षके आवेगसे उसकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। उसने रोते हुए ही दौड़कर बालकको अपनी छातीसे लगा लिया। 'मिल गया, मिल गया, मेरा लाल। यही तो है मेरा बेटा।' हर्षावेशसे उन्मत्त हो वह चिल्लाने लगी।

डॉ० कौस्तुभने बहुत ही सावधानीसे उस स्त्रीकी सार-सँभाल की। दो महीनेके उपचार और देखभालसे ही वह पूरी तरह ठीक हो गयी। उसका मानसिक संतुलन बिल्कुल सामान्य हो जानेके बाद जब वह वहाँसे विदा होने लगी तो उसने डॉक्टर-दम्पतिके पैर पकड़ लिये और उनसे अनुनयके स्वरमें कहा—'आप आज्ञा दें तो मैं अपने बेटेको अपने साथ लेती जाऊँ?'

'लेती जाओ बहिन! हम अपने सुखके लिये तुम्हें दुखी करना नहीं चाहते। इसके वियोगने ही तुम्हें पागल बना दिया था। संयोगसे अब यह हमारा भी पुत्र हो गया था। अब यदि तुम इसे हमसे दूर (अपने साथ) ले जाओगी तो हमें इसके वियोगसे कोई विशेष दुःख न होगा। कारण हमें तो कोई अन्य बालक भी पुत्ररूपमें मिल जायगा; परंतु यदि हमने तुम्हारा यह पुत्र (अपने पास रखकर) तुमसे अलग कर दिया तो फिर तुम अपना पुत्र कहाँ पाओगी? क्योंकि दूसरोंको अपना बनानेकी कला अभी तुमने नहीं सीखी है।' डॉक्टर-दम्पतिने अपने अन्तर्भावोंको छिपाते हुए भर्राये स्वरमें इतना ही कहकर उस बालकको उसी क्षण उस दुखी महिलाको सौंप दिया। अब डॉक्टर-दम्पतिकी आँखें आनन्द और पीड़ा (दोनों) के मिश्रित भावोंके कारण चमकपूर्ण एवं सजल थीं। यह है उदारता एवं त्यागका भाव। किंतु निर्धनता भी कितनी क्रूर है!

—बी० जे० कापड़ी (अखण्ड आनन्द)

(५)

श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे सफल ऑपरेशन

सन् १९६५ से ही मैं हार्निया रोगसे ग्रस्त था। अनेक डाक्टरोंके मतानुसार उपचार कराया गया; किंतु कोई उपचार फलप्रद न हो सका। डाक्टरोंके अभिमत-से ऑपरेशन ही उसका एकमात्र उपाय था। जो कष्ट-प्रद तथा जोखिमसे भरा था। उससे मैं बचना चाहता था। जब औषध-उपचार तथा इंजेक्शन आदिसे कोई लाभ न हुआ तो अन्तमें वैद्य, हकीमों, डाक्टरों आदि सबकी ओरसे मुँह मोड़कर सन् १९७० से मैं श्रीहनुमान्‌जीकी सेवा-उपासनामें एकाग्रचित्त होकर लग गया। प्रतिदिन पुष्पमाला, धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे नियमित भगवान् मारुतिका पूजन करता था। मंगल तथा शनिवारको विशेषरूपसे चमेलीके तेल अथवा घी-युक्त

सिन्दूरका मूर्तिपर लेपन करता, पुष्पमाला तथा भोग-सामग्री (नैवेद्य) अर्पित करके आर्तभावसे स्तुति-प्रार्थना किया करता था। इस अवधिमें श्रीहनुमान्‌जीके दाहिने चरणका सिन्दूर प्रसादके रूपमें लेकर जहाँ हार्निया था वहाँ स्पर्श कराता रहा। यह नियम क्रमशः एक माह बराबर चलता रहा। मनमें श्रीहनुमान्‌जीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेकी दृढ़ भावना बनी रही।

सुपरिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः रोग नियन्त्रित होकर दर्द तो एकदम ही ठीक हो गया। इसके बाद फिर कभी कोई दौरा भी न हुआ। परंतु सुविज्ञ लोगोंके अनुसार ऑपरेशन कराना अब भी आवश्यक था। अतः श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण करके दिनाङ्क २७-७-७८ शुभ दिन मंगलवारको मैंने सोत्साह इसका ऑपरेशन भी करा दिया। ऑपरेशन करानेमें मुझे इस बार किंचित् भी भय मालूम न हुआ। श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण करते हुए ही मैं ऑपरेशन-कक्षमें प्रविष्ट हुआ था।

नासै रोग हरै सब पीरा। जपत निरंतर हनुमत बीरा॥

हनुमान-चालीसाकी इस चौपाईका ऑपरेशनके पूर्व और बादमें होश आनेपर अनवरत उच्चारण करता रहा। परम दयालु श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे ऑपरेशन पूर्णतः सफल रहा। मुझे विश्वास है कि श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आर्त-भावसे की गयी श्रीहनुमान्‌जीकी पूजा-उपासना कभी भी निष्फल नहीं होती। —लालप्रसादजी शर्मा

(६)

इष्टदेवकी कृपासे ही कई लोगोंकी प्राण-रक्षा हुई

घटना गतवर्ष २९ मई, ७८ की है। मैं अपने कुछ सम्बन्धियों तथा अपनी पत्नी एवं एक भतीजीके साथ कारद्वारा अपने गाँवसे कानपुर आ रहा था। सभी लोग भगवान्‌का स्मरण करते हुए सायंकाल लगभग ७ बजे सकुशल लखनऊ पहुँच गये। वहाँ अपने एक सम्बन्धीके यहाँ विश्राम करके रात्रि ८.३० बजे पुनः लखनऊसे रवाना हुए। वहाँसे ३ कि० मी० मिश्रीगंज ग्राम-(जो कि थाना अजगेनके अन्तर्गत उन्नाव जिलेमें आता है)के समीप पहुँचते-पहुँचते गाड़ीकी हेडलाइट खराब हो गयी। हमलोगोंने गाड़ीको सड़कसे नीचे उतारकर बायीं ओर खड़ा कर दिया और नीचे उतरकर टार्चकी सहायतासे हेडलाइट ठीक कर ही रहे थे कि इतनेमें कानपुरकी ओरसे तीव्रगतिसे आती हुई भारी सामानसे लदी एक ट्रकने पीछेकी ओरसे कारमें जोरदार टक्कर दी। बस, फिर क्या था, इस अप्रत्याशित आपत्तिको समक्ष देखकर हमारे तो होश-हवाश उड़ गये। गाड़ी ट्रकके साथ २० फुट पीछे जाकर लखनऊकी ओर मुँह करके उलट गयी। यह सब कैसे क्या हुआ, मैं समझ नहीं पाया।

भगवत्कृपासे यह चमत्कार ही था कि मुझे थोड़ी-सी खरोंच भी नहीं आयी, पर मैं घबरा बहुत गया था। अत्यन्त व्यग्र और निराश होकर अपने इष्टदेव भगवान् श्रीरामको याद करता हुआ कारमें बैठे लोगोंकी ओर बढ़ा और जाकर देखा कि बैठे हुए लोगोंमें केवल हमारे एक सम्बन्धी डाक्टरसाहबको छोड़कर, जो कुछ गम्भीर रूपसे घायल हो गये थे, किसीको कोई विशेष चोट नहीं आयी थी। प्रभुकी इस अहैतुकी अनुकम्पापर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। घायलोंकी वाणी एकदम मूक थी। पश्चात् गाँववालोंकी सहायतासे गाड़ी बाहर निकाली। डॉ० साहबको भी स्टीयरिंगसे निकाला गया। उनके बायें हाथकी हड्डी तथा सीनेकी दो पसलियाँ टूट गयी थीं, मस्तकपर भी कुछ चोट आयी थी।

संयोगसे उसी समय लखनऊकी ओरसे कानपुर उर्सला-चिकित्सालयके चिकित्सक डॉ० एस्० पी० दुबे (सर्जन) और डॉ० सतीशचन्द्र (जो अपने घनिष्ठ परिचितोंमें हैं) आ रहे थे। उन्होंने तत्काल ही हममेंसे अधिक घायल डॉ० चतुर्वेदीका निरीक्षण किया और उन्हें अपने साथ अपनी गाड़ीमें ले करके चिकित्सालय रवाना हो गये। शेष सभी (मुझे छोड़कर) वहाँके थानाध्यक्षके कृपा-पूर्ण सहयोगसे एक मिनी-बसद्वारा कानपुर पहुँचे।

भगवान्‌की कृपासे उक्त दुर्घटनासे प्रभावित डॉक्टर चतुर्वेदीजीसहित हम सभी व्यक्ति अब पूर्णतः स्वस्थ हो गये हैं। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि भगवान् (श्रीराम) ही अपने आश्रितोंकी हर क्षण सदैव रक्षा किया करते हैं। आवश्यकता है अपने प्रभुपर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखकर उनके चरणाश्रित होनेकी। *'आरतपालु कृपालुजू राम, जेहि सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।'*

प्रेषक—श्रीवीरेन्द्रधरजी त्रिवेदी

(७)

भगवत्कृपासे शुभ संकल्प पूर्ण हुआ

बात गत वर्षकी है। श्रावणपूर्णिमाके अवसरपर श्रीवैद्यनाथमें सुलतानगंजसे गङ्गाजलकी काँवर लेकर पैदल जानेका विचार आषाढ़ माससे ही मेरे मनमें अङ्कुरित हो रहा था। मैंने अपना विचार अपनी माँ तथा पिताजी एवं भाईके सामने व्यक्त किया। रास्तेमें होनेवाले नाना प्रकारके कष्टोंकी ओर इन सभीने मेरा ध्यान आकृष्ट किया। किंतु जब उन्होंने मेरा संकल्प दृढ़ पाया तब सबने पूरा समर्थन किया। पिताजीने **'ॐ नमः शिवाय'**का मन्त्र दिया और मार्गमें किसी तरहकी व्यर्थकी बातचीत तथा मनमें किसी प्रकारके विकारपूर्ण विचार न लानेकी सलाह दी। पिताजी संध्या-प्राणायाम और नियमपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ दोनों समय किया करते हैं; इसलिये उनके सुसंस्कारित जीवनसे प्रेरित दी गयी शिक्षा हृदयङ्गम हुई।

हमारे उत्साहको देखकर हमारी परिचित चार महिलाएँ और दो पुरुष भी इस यात्रामें सम्मिलित हुए। इस प्रकार कुल सात व्यक्तियोंकी टोली अपने गेरुआ परिधानमें **'ॐ नमः शिवाय'** और **'बोल बम'**के नाम-सहित सुलतानगंजके लिये टैक्सी-द्वारा प्रस्थित हुई।

दूसरे दिन नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर अपने-अपने कंधोंपर काँवर लिये **'ॐ नमः शिवाय', 'बोल बम'** उच्चारण करते हुए हमारी पदयात्रा प्रारम्भ हुई। दो दिन लगातार चलते रहनेसे मेरे दोनों पैरोंमें छाले पड़ गये। पीड़ा अधिक हो गयी, लाचारीमें मैं रोने लगी। बरबस **'ॐ नमः शिवाय'**का जप विशेष रूपसे शुरू हो गया। **'दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'** की रट लग गयी। साथियों तथा अन्य यात्रियोंने हिम्मत दिलायी। प्राथमिक उपचारके बाद पूरे उत्साहसे पुनः यात्रा प्रारम्भ हुई। भगवान् शिवकी कृपासे कष्ट दूर हो गये। दोनों मन्त्रोंका जप अनवरत चलता रहा।

दूसरे दिन रात्रिका पड़ाव एक होटलमें करनेका निश्चय किया गया। वर्षा हो रही थी। विश्रामके लिये होटल-मालिकने स्थान देनेसे इन्कार कर दिया। हमने होटल-मालिकसे बहुत अनुनय-विनय की, पर वह अपनी बातपर ही दृढ़ बना रहा। उसी समय एक अद्भुत घटना घटी। उस होटलमें अचानक एक विषधर सर्प प्रकट हुआ। जबतक होटलके कर्मचारियोंमें उसे मारनेकी तैयारी होने लगी तबतक वह ओझल भी हो गया। होटलवालेने दीवालतक खोद डाली; पर सर्पका कहीं पता न चला। हमलोग अवाक् और शान्त थे। होटलवाला भयभीत और विचारमग्न था—जैसे कुछ निश्चय कर रहा हो। वह सहसा बोला—'आजके दिनसे हमलोग इन **'नमः शिवाय'** वालोंको पूरी सहूलियत देंगे' और सचमुच ही फिर उसने हमें होटलमें स्थान देकर पर्याप्त सुविधा दी। सम्भवतः सर्प-दर्शनको होटलवालेने अपने लिये दैवी चेतावनी समझा हो और इसीलिये उसने तीर्थयात्रियोंकी सेवा करनेका निर्णय लिया हो।

सोमवारको वैद्यनाथधाम पहुँचकर अपार भीड़में हमने गङ्गाजल अर्पण किया। इस अनुष्ठान-यात्रामें अनेक कठिनाइयाँ आयीं। पर पद-पदपर मैंने भगवत्कृपाका अनुभव किया। भगवान्‌की विशेष अनुकम्पासे ही वैद्यनाथधामकी यात्राका मेरा यह अनुष्ठान और संकल्प निर्विघ्न पूरा हो सका।

—कुमारी वीणा सेठी

श्रीगीता-जयन्ती-महोत्सव

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (गीता १८ । ७०)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप इस गीताशास्त्रको पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है ।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण जगत्को दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-पथपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र ही है । विश्वमें इसका जितना ही अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही विश्व सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा । अतः इसके महत्त्व-प्रतिपादन आदिके द्वारा प्रचारका पुनीत कार्य करना चाहिये ।

वर्तमान वर्षमें मार्गशीर्ष शुक्ला ११, संवत् २०३६, गुरुवार दिनाङ्क २९ नवम्बर, सन् १९७९ को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व है । इस पर्वपर जनतामें गीता-प्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी कारगर योजना बनानी चाहिये । आजके मोहग्रस्त किंकर्तव्यविमूढ मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है । इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाताके प्रचारके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें छोटे-बड़े सभी स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण एवं गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले विशाल बुद्धि भगवान् व्यासदेवका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण ।

(४) गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीतापाठ एवं पठन प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञान-चक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी नैष्कर्म्य शिक्षाकी परम-पुण्य तिथिका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन होना चाहिये और भगवन्नाम-संकीर्तन आदिका आयोजन भी होना चाहिये ।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि ।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन ।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा भी निकाली जा सकती है ।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीताका प्रचार करें ।

(९) गीताध्ययनकी प्रेरणाएँ दी जायँ और प्रतिदिन पाठ करनेकी प्रतिज्ञाएँ करायी जायँ ।

गीताशास्त्रकी महिमा

इदं गीताशास्त्रं परमपुरुषार्थैकनिलयं त्रिकाण्डं वेदार्थं सकलमिह संगृह्य कथितम्।
स्वयं श्रीकृष्णेन श्रुतिविशदतत्त्वेन विभुना जपाद् ध्यानाज्ज्ञानाच्छ्रुतमपि फलत्येव सुधियाम्॥
(सदानन्दकृत गी० टी० प्रस्तावना)

यह गीताशास्त्र परमपुरुषार्थ (मोक्ष)का एकमात्र आश्रय है—केवल गीताके सेवनसे ही परमपुरुष परमेश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। जो वेदोंका विशद तत्त्व—परमप्रतिपाद्य विषय परमब्रह्मस्वरूप है, उन्हीं सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही इस गीताशास्त्रमें कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंसे युक्त समस्त वेदोंके अर्थका संग्रह करके प्रतिपादन किया है। इसका पाठ करने, इसके अर्थका चिन्तन करने, अध्ययनके द्वारा इसको जानने अथवा श्रवणमात्र करनेपर भी यह गीताशास्त्र सुबुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही अभीष्ट फल देनेवाला होता है।